CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अहिंसा तत्त्वदर्शन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का
ही
ीर
श्रा
की
ल
ही
है
ा
ता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हि० ४४

अहिंसा तत्त्व-दर्शन

श्री गणेश वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान
पुस्तक सं० 253
दिनांक ....
नरिया (का. हि. वि. वा.) वाराणसी-5

प्रवचन :
उपाध्याय अमरमुनि

सम्पादन :
सतीशकुमार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशक :
सन्मति ज्ञानपीठ
लोहा मंडी,
आगरा

●

मूल्य : तीन रुपया

●

२ अक्तूबर, १९६१

●

मुद्रक :
आकाशदीप प्रिंटर्स,
२०, दरियागंज,
दिल्ली-६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust eGangotri

पुस्तक सं० 253
दिनांक.........
नरिया (का. हि. वि. वि.) वाराणसी

प्रकाशकीय निवेदन

- अहिंसा तत्त्व-दर्शन, हमारे पूर्व-प्रकाशन, अहिंसा दर्शन का ही संशोधित, परिवर्धित संक्षिप्त संस्करण है। लेकिन इस संस्करण का इतना कायाकल्प हो गया है कि पुस्तक करीब-करीब नवीन ही बन गई। इसलिए इस पुस्तक का नाम अहिंसा-दर्शन के स्थान पर अहिंसा तत्त्व-दर्शन कर दिया गया है।

- इस पुस्तक का सम्पादन हमारे साहित्यिक साथी श्री सतीशकुमार जी ने जिस परिश्रम के साथ किया है, वह विशेष रूप से स्मरणीय है। सम्पादन होने के बाद उपाध्याय श्री जी ने पूरी पुस्तक का स्वयं पारायण करके उसका संशोधन भी कर दिया है।

- इस पुस्तक का प्रकाशन, सम्पूर्ण अहिंसा-साहित्य में और विशेष रूप से जैन-साहित्य में अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। अहिंसा का इस तरह का शास्त्रीय, वैज्ञानिक और तर्कपूर्ण विश्लेषण अब तक जैन-साहित्य में तो उपलब्ध था ही नहीं, अन्य हिन्दी-साहित्य में भी दुर्लभ ही था। इसलिए हम अपने पाठकों को यह पुस्तक भेंट करते हुए विशिष्ट प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं। इस पुस्तक के मुद्रण का कार्य कुछ शीघ्रता में हुआ है इसलिए यदि कोई त्रुटि पाठकों के ध्यान में आये, तो वे हमें क्षमा करें और उस तरफ हमारा ध्यान आकृष्ट करें।

मन्त्री
सन्मति ज्ञानपीठ
लोहामण्डी, आगरा
(उत्तर प्रदेश)

२ अक्तूबर, १९६१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

६४५

सम्पादकीय निवेदन

●

उपाध्याय अमरमुनि की यह पुस्तक अहिंसावादियों और शान्तिवादियों के अध्ययन के लिए विशेष महत्त्व रखती है; क्योंकि आज दुनियां में अहिंसावादी कार्यकर्ताओं के लिए इस तरह के साहित्य की बहुत कमी है। खासतौर से हिन्दी में तो करीब-करीब नहीं के समान है। जो साहित्य उपलब्ध है, वह भी इतना दुरूह और दुर्गम है कि साधारण कार्यकर्ताओं को साधारण जीवन की बातें समझने के लिए उन पुस्तकों से सहयोग नहीं मिलता। काफी गहरा चिन्तन और काम कर लेने के बाद भी वे पुस्तकें आम कार्यकर्ताओं के लिए लाभदायी साबित नहीं होती हैं। परन्तु यह पुस्तक बहुत ही सरल भाषा में और बहुत ही सरल ढंग से अहिंसा-तत्त्व को समझाने के लिए तैयार की गई है। क्योंकि अमरमुनि एक जैन मुनि हैं और जैन दर्शन का उन्होंने गहराई से अनुशीलन किया है, इसलिए पुस्तक में जहां-तहां जैन सिद्धान्तों की छाप दिखाई पड़ती है। परन्तु मुझे इसमें सन्देह नहीं है कि जैनेतर विचारकों के लिए भी इस पुस्तक में पर्याप्त सामग्री है और मुख्यत: आज के जीवन में जो सवाल पैदा होते हैं, उनके समाधान के लिए यह पुस्तक एक सही मार्गदर्शक का काम देती है।

श्री अमरमुनि एक अध्ययनशील और मननशील विद्वान् हैं। न केवल इतना ही, बल्कि उनका सारा जीवन अहिंसा की प्रत्यक्ष और क्रियात्मक साधना में लगा हुआ है। इसलिए वे अहिंसा और उससे सम्बन्धित सभी प्रश्नों पर अपने मौलिक विचार रखते हैं और उन विचारों के आधार पर वे जीवन की विभिन्न प्रक्रियाओं के औचित्य का निर्णय करते हैं। क्योंकि अधिकांश विचारक केवल विचारक ही होते हैं। उनके जीवन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को साधना उस तरह की नहीं होती। किन्तु जैसे महात्मा गांधी जी, सन्त बिनोबाजी आदि कुछ महात्मा अपने जीवन को अहिंसा के आचरण के लिए खपाते हैं, उसी तरह श्री अमरमुनि ने भी अपने जीवन की साधना को अहिंसा के आधार पर विकसित की है।

आज सारे संसार में हिंसा और अहिंसा के प्रश्न बहुत महत्व रखते हैं। और शान्ति तथा समाज-निर्माण के लिए अहिंसा की आवश्यकता को प्रायः सभी विचारक और नेता एक स्वर से स्वीकार करते हैं। इसलिए अहिंसा के सम्बन्ध में किसी इस तरह की पुस्तक का सम्पादन-कार्य करने में मुझे दिलचस्पी हो, यह सहज़ ही है। इसलिए और भी अधिक दिलचस्पी होती है, क्योंकि मैं सर्वोदय-समाज का एक नम्र कार्यकर्ता हूं और अपने जीवन को अहिंसा के आचरण तथा प्रचार के लिए अर्पित करना चाहता हूं। यदि मेरे जीवन में अहिंसा के आचरण की दृष्टि से थोड़ा-बहुत भी मैं सफल हो सका और इस तरह की पुस्तकों के सम्पादन, लेखन एवं प्रकाशन के काम में थोड़ा भी हिस्सा बटा सका, तो यह मेरा ही सभद्राग्य होगा। क्योंकि यदि जीवन का उद्देश्य अहिंसा की साधना है, तो उसके लिए सारे साधन भी अहिंसा-मूलक ही हों, यह अनिवार्य है। अतः हमें यह निरंतर याद रखना है कि जीवन में अहिंसा को साधने के लिए सारी परिस्थिति को अनुकूल बनाना होगा। इस पुस्तक के सम्पादन में मेरी इस भावना ने मुझे निरन्तर प्रेरणा दी है और मैं इस काम को पूरा कर सका हूं, इसके लिए मेरा हृदय आनन्द विभोर हो रहा है।

विश्व नीडम्, बैंगलोर —सतीश कुमार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१.	अहिंसा : एक जीवन-गंगा	१
२.	अहिंसा की कसौटी	१०
३.	हिंसा के दो प्रकार	२१
४.	समग्र-साधना	२६
५.	अहिंसा के दो रूप	३३
६.	अहिंसा का मानदंड	४३
७.	अहिंसा की रीढ़	५३
८.	प्रवृत्ति और निवृत्ति	६२
९.	क्या अहिंसा व्यावहारिक नहीं है ?	७०
१०.	वर्ण-व्यवस्था का मूल रूप	७६
११.	जातिवाद का भूत	८३
१२.	मानवता का भीषण कलंक	८९
१३.	पवित्रता का मूल स्रोत	९६
१४.	शोषण भी हिंसा है	१०६
१५.	रोटी का सवाल	११५
१६.	अन्न का महत्त्व	१२८
१७.	अहिंसा की उपलब्धि	१३४
१८.	आर्य कर्म और अनार्य कर्म	१४७
१९.	कृषि अल्पारंभ है	१५७
२०.	अहिंसा और कृषि	१६७
२१.	शाकाहार का प्रश्न	१७४
२२.	अहिंसा : अतीत और वर्तमान	१७९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अहिंसा तत्त्व-दर्शन

उपाध्याय अमरमुनि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीवन दर्शन के मोती

- तमाम सच्चे और ठोस काम, कर्ता को अमर बना देते हैं क्योंकि वे उनकी मौत के बाद भी जिन्दा रहते हैं।
- जीना यानी मौज करना नहीं, बल्कि ईश्वर की स्तुति करना, अर्थात् मानव-जाति की सच्ची सेवा करना है।
- जो जीवन का लोभ छोड़कर जीता है, वही जीवित रहता है।
- जिस प्रभु ने लाखों शरणागतों की सहायता की है, वह क्या तुम्हें छोड़ देगा!
- आत्म-शुद्धि की पहली सीढ़ी यह है कि हम अपनी अशुद्धि को कबूल करें!
- कर्त्तव्यों के धर्म संकट में सच्चा मार्ग ढूंढ लेना सहज नहीं है!
- जीवन का उपयोग समाज के लिए ही करना चाहिए!

—महात्मा गांधी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री गणेश वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान
पुस्तक सं० ....
दिनांक ....
नरिया, (का. हि. वि. वि.) वाराणसी-5

अहिंसा : एक जीवन-गंगा

मानव जाति के इतिहास में जितना वर्णन अहिंसा के संबंध में मिलता है, उतना अन्य किसी भी विषय में नहीं मिलता। क्योंकि मानवीय करुणा और मानवीय चेतना का मूल आधार अहिंसा ही है। अहिंसा मानव जाति के ऊर्ध्वमुखी विराट् चिन्तन का सर्वोत्तम विकास बिंदु है। क्या लौकिक और क्या लोकोत्तर, दोनों ही प्रकार के मंगल जीवन का मूल आधार अहिंसा है। यदि यह आधार टूट जाय तो जीवन खंडित हो जायगा और मानवता मूर्छित हो जायेगी। व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज, समाज से राष्ट्र और राष्ट्र से विश्वबंधुत्व का जो विकास हुआ या हो रहा है उसके मूल में अहिंसा की ही भावना है। क्योंकि जीवन के चिरंतन सत्य को जोड़ने वाली कड़ी अहिंसा ही बन सकती है। मानव सभ्यता के सांस्कृतिक वातावरण में यदि हम किसी ऐसी चीज को रखना चाहते हों जो सरस हो, मधुमय हो, सुरम्य हो तो वह अहिंसा ही है।

हिंसा, अधिकार-लिप्सा, असहिष्णुता, सत्ता-लोलुपता और स्वार्थांधता से विषाक्त संसार में अहिंसा ही सर्वश्रेष्ठ विश्राम भूमि है, जहां पहुंचकर मनुष्य अमृतमय कलश को पा लेता है। अपनों को और दूसरों को समान धरातल पर रखने के लिए अहिंसा की निर्मल आंखों से देखना होगा। यदि अहिंसा न हो तो मनुष्य न स्वयं अपने को पहिचाने और न दूसरों को ही।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दो

अहिंसा धर्म का मूल है !

यही कारण है कि विश्व के सभी धर्मों ने एक स्वर से अहिंसा के गौरव को स्वीकार किया है। मनुष्य के चारों ओर जिस भौतिकता का घेरा पड़ा हुआ है और वह घेरा जिस मज़बूती के साथ आदमी की सर्वतोमुखी प्रगति को अवरुद्ध कर रहा है, उसे तोड़ने का उच्च आध्यात्मिक साधन अहिंसा ही बन सकती है। कौन ऐसा धर्म है जो अपने प्रभु से मिलने के लिए और सब कुछ लेकर चले, किन्तु अहिंसा को छोड़ दे ? करुणा मूर्ति ईसा ने कहा है कि यदि तुम प्रार्थना के लिए एक मंदिर में जा रहे हो और उस समय तुम्हें याद आ जाय कि मेरी अमुक व्यक्ति से अनबन या खटपट है, तो तुम्हें लौट जाना चाहिए क्योंकि अपने उस विरोधी से क्षमा याचना किये बिना प्रार्थना करने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं हैं।

महात्मा मसीह ने आगे और कहा कि यदि कोई दुश्मन तुम्हारे एक गाल पर तमाचा मारे तो तुम दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो।

अन्य धर्मों की ही तरह, बल्कि उनसे भी कहीं ज्यादा जैन धर्म ने अहिंसा को स्थान दिया है। उसकी छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी प्रत्येक साधना में अहिंसा का एक ऐसा मधुर संगीत बहता रहता है जो मनुष्य को आनंद-विभोर कर देता है। आज आम जनता में जैन धर्म का सीधा-सा अर्थ यही समझा जाता है कि वह अहिंसा-प्रधान धर्म है; क्योंकि जैन धर्म ने जीवन को अनंत मुक्ति की ओर ले जाने के लिए जिन मार्गों का निर्देश किया है, उन में अहिंसा का स्थान सब-से-पहिला है। चाहे वह साधु हो या गृहस्थ,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, चाहे वह युवक हो या बूढ़ा, सब के लिए सामान रूप से अहिंसा के पालन का प्रतिपादन किया गया है। जीवन की उत्कृष्ट साधना अहिंसा की साधना ही मानी गयी है। यदि अहिंसा की साधना में व्यक्ति सफल हो जाता है तो वह दूसरी सभी साधनाओं में आसानी से सफल हो सकता है।

अहिंसा का आधार

यदि अहिंसा है तो सत्य भी टिकेगा, अचौर्य भी टिकेगा, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह की भावना भी टिकेगी। जीवन के जितने भी ऊंचे आदर्श हैं उन सब की प्राप्ति का साधन अहिंसा ही है। जैसे जमीन के आधार पर ही यह विशाल महल, गांव, नगर यानी सारी दुनिया टिकी हुई है, उसी तरह आध्यात्मिक साधना की आधार-भूमि अहिंसा है। यदि अहिंसा का आधार न मिले तो अध्यात्मवाद का यह भव्य महल एक ऐसा ताश का महल साबित होगा, जो किसी हलके से धक्के के कारण गिर जाता है। इसलिए यदि मैं यह मानकर चलूं कि इस विश्व की संपूर्ण परंपराओं का आधार अहिंसा ही है तो इसे अत्युक्ति न कहा जाय।

अब हमें यह समझना चाहिए कि अहिंसा का स्वरूप क्या हो। मैं नहीं समझता कि अहिंसा कोई आकाश-विहार की चीज है अथवा धर्म-ग्रन्थों में लिखी रहने लायक कोई रहस्यमय चीज है, बल्कि निश्चित रूप से अहिंसा जीवन में रोजमर्रा के व्यवहार में काम आनेवाली चीज है। मन का विवेक और जीवन का विवेक ही अहिंसा की भावना को जन्म देता है। हाथों का संयम, पैरों का संयम, वाणी का संयम, इंद्रियों का संयम, मन का संयम इत्यादि हमारे जीवन की जो संयम-मूलक प्रक्रिया है, वही अहिंसा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जब सड़क पर किसी सिसकते हुए प्राणी को हम देखते हैं, तब हमारे मन में एक सहज करुणा और सहानुभूति की भावना उत्पन्न होती है। हम अपने को रोक नहीं सकते और सहज ही सिसकते हुए प्राणी की सेवा के लिए अपने को समर्पित कर देते हैं। आखिर यह क्या है ? यह अहिंसा की ही भावना है जो अपने सहस्र रूपों में हमारे जीवन में प्रकट होती है ।

अहिंसा का समग्र रूप

लोग ऐसा कहते हैं कि किसी प्राणी को न मारना या किसी की हत्या न करना ही अहिंसा हैं। लेकिन वे अहिंसा के इस एकांगी दृष्टिकोण को ही समझ पाये हैं, ऐसा कहना पड़ेगा। क्योंकि अहिंसा एक समग्र जीवन-दर्शन है। उसका संबंध शरीर से भी ज्यादा मन से, भावनाओं से और चित्त की वृत्तियों से है। जो साधक अहिंसा का व्रत लेगा वह न केवल शरीर से और न केवल वचन से बल्कि मन से भी किसी के प्रति बुरा विचार नहीं करेगा। कभी-कभी ऐसा होता है कि आदमी शरीर के द्वारा किसी का नुकसान करने में या किसी को मारने में या किसी की हत्या करने में असमर्थ होता है, फिर भी वह मन-ही-मन कुचक्रों का जाल बुनता रहता है। उसके मन में नाना प्रकार की चंचल वृत्तियाँ पैदा होती रहती हैं। ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मत्सर इत्यादि नाना प्रकार की वृत्तियों में उलझा हुआ व्यक्ति घोर हिंसक है, भले ही वह किसी भी जीव के प्राणों का अपहरण न करे। खास तौर से जैन दृष्टिकोण में और जैन चिंतकों के साहित्य में हमें यह विचार प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। वहां भावना के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। प्राचीन ग्रंथों में एक जगह उदाहरण देते हुए बताया गया है कि समुद्र में तन्दुल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नामक एक क्षुद्र मत्स्य अपनी हिंसक भावना के कारण बड़े-बड़े मत्स्यों से भी अधिक हिंसक हो जाता है, जब कि वह मत्स्य मन-ही-मन यह विचार करता है कि काश ! मैं भी बहुत बड़ा मगरमच्छ होता और तब समुद्र में फैले हुए हजारों जीव-जंतुओं को उदरसात् करता। उसकी यह कलुष भावना उसे घोर हिंसा के घेरे में डाल देती है। वाणी और शरीर की हिंसा से भी अधिक मन की हिंसा का स्थान है, क्योंकि जिस व्यक्ति के हृदय में अहिंसा का पावन स्रोत बहता रहेगा, वह व्यक्ति कभी भी वाणी से और शरीर से हिंसा का सहारा नहीं लेगा।

मनुष्य की समस्त प्रवृत्तियाँ मन, वचन और शरीर की त्रिपुटी में आ जाती हैं। मानव जीवन इन्हीं तीनों के आस-पास घूमता रहता है। एक तरफ ऊंचा आकाश और दूसरी तरफ व्यापक, विशाल धरती। इन दोनों के बीच में मन, वचन और शरीर को धारण करने वाला मनुष्य ! यदि वह इन तीनों के माध्यम से करुणा की सोयी हुई चेतना को जागृत कर ले, अन्तर में प्रेम के पुनीत प्रवाह को प्रवाहित कर ले, तो निश्चित ही उसके जीवन में एक मधुर आनंद भर जाये। तब धरती और आसमान के बीच फैले हुए इस विशाल संसार में कहीं भी दुख, दैन्य, गरीबी, असंतोष, अशांति इत्यादि दूषित भाव नहीं रहेंगे।

राक्षसी वृत्ति

●

हिंसा की भावना निहायत राक्षसी भावना है। भले ही बाहर से हमें मनुष्य का शरीर दिखाई देता हो, लेकिन अंतर में वह राक्षस ही है जिसे न अपने आपका पता है और न अपने अमूल्य जीवन का पता है। जो वासनाओं में भटक रहा हो, जो द्वेष तथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कलह की भावनाओं में ठोकरें खारहा हो, वह मनुष्य है, ऐसा कहने के लिए मन इजाजत नहीं देता। मनुष्यता एक पवित्र चीज है। मनुष्य से बढ़कर श्रेष्ठ इस दुनिया में कुछ भी नहीं है। सारी सृष्टि का केन्द्र-बिन्दु यह मानव ही है। अतः मानव के बारे में किसी ऐसे घृणित स्वरूप की कल्पना नहीं की जा सकती। यदि हिंसापूर्ण तथा कृतघ्नतापूर्ण जीवन की परंपराओं में आदमी पड़ा हो तो वह उस समय आदमी नहीं, बल्कि राक्षस है या पशु है, ऐसा कहना पड़ेगा।

राम और रावण के इतिहास का अध्ययन करने के लिए हमें कहीं बाहर जाने की जरूरत नहीं है। हमारे अंदर ही दो तरह की वृत्तियाँ हैं। एक वृत्ति राम की प्रतीक है और दूसरी वृत्ति रावण की प्रतीक है। यदि हम इन्सान बनना चाहते हैं, जीवन की शुष्कता से दूर होकर, उच्च सांस्कृतिक कल्पनाओं में रमण करना चाहते हैं, तो हमें अहिंसा की ज्ञान-गंगा में अवगाहन करके रावणमयी वृत्तियों को धो डालना होगा, क्योंकि जहां राम है वहाँ मोह नहीं होता, लोभ नहीं होता, अहंकार नहीं होता, माया का विकार नहीं होता। जहाँ रावण है, वहां प्रेम नहीं होता, करुणा नहीं होती, सौजन्य नहीं होता, सहानुभूति नहीं होती। राम और रावण को हम व्यक्ति के रूप में भले ही न लें। किसी युग में इस तरह की कोई घटना घटी होगी, ऐसा भी भले ही न समझें। परन्तु केवल प्रतीक के रूप में ही यदि इन दोनों को स्वीकार करें, तो भी हमें सहज जीवन की दो धाराएं दीख पड़ेंगी। एक धारा ऐसी होगी जो पवित्र, निर्मल और आकर्षक होगी तथा दूसरी धारा ऐसी होगी जो मलिन, कुत्सित और वीभत्स होगी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाधान अपने अंदर हैं

जीवन की अनेक समस्याएं हैं। सारा संसार मनुष्य के सामने एक प्रश्न-चिन्ह बनकर खड़ा हो जाता है। बेचारा मनुष्य अपने को असहाय और दीन महसूस करने लगता है। फिर वह इधर-उधर भागदौड़ मचाता है। समस्याओं का समाधान ढूंढने की कोशिश करता है। उसके भीतर एक ऐसी मिथ्या धारणा घर कर जाती है कि उसके जीवन की समस्याओं का हल कहीं बाहर होगा, इस दुनिया की किसी अमुक परिस्थिति में होगा। पर वास्तव में उसकी यह धारणा मिथ्या ही साबित होती है। जैसे किसी व्यक्ति को जख्म हाथ में लगा हो और वह मरहम पैर में लगाये, दर्द सिर में हो और चंदन हाथों में लगाये तब उसे समाधान नहीं मिलता। उसी तरह समस्याओं का समाधान अपने अंदर होने के कारण मनुष्य को बाहर भाग-दौड़ करने पर भी शांति नहीं मिलती। काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ आदि विकार कहां हैं? इन विकारों की बुनियाद कहां है? यदि इसकी खोज की जाय तो मनुष्य को अंतर्मुखी होना पड़ेगा। उसे इसकी खोज अपने अंदर करनी पड़ेगी। विज्ञान ने सृष्टि की खोज में अपनी सारी शक्तियां जुटा दीं, लेकिन अभी भी उसे संतोष नहीं हुआ, क्योंकि जब तक आत्म-संशोधन की या विश्वात्मा के अन्वेषण की ओर हमारा ध्यान नहीं जायेगा तब तक हमें चिर समाधान की प्राप्ति नहीं हो सकती। मानव के मन में एक सहज प्रश्न उठता है कि मैं कौन हूं? और वहीं से सारी सृष्टि का ज्ञान प्रारंभ होता है। पर दुख है कि हमारे वैज्ञानिक और भूतवादी चिंतक "मैं" की खोज को भूलकर सृष्टि की खोज में जुट जाते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हमारे पुराने विचारकों ने भी आत्मा की शांति को ढूंढने के लिए मंदिर बनाये, मठ बनाये, तीर्थ-स्थान बनाये, फिर भी उन्हें समाधान नहीं मिल सका; क्योंकि यदि शरीर पर कहीं कोई गंदगी लगी हो तब तो गंगा में स्नान करने से सफाई हो सकती है, लेकिन जब वह गंदगी अपने अंदर है तब किसी मठ, मंदिर या गंगा-स्नान से पवित्रता कैसे हासिल हो सकती है ? वास्तव में तो सब-से-बड़ा मंदिर, सब-से-बड़ा तीर्थ, सब-से-बड़ा चर्च, सब-से-बड़ी मसजिद अपनी आत्मा ही है । इधर-उधर भटकने की कोई आवश्यकता नहीं है। मनुष्य को मनुष्य के अंदर घुसने की जरूरत है। यदि सारी सृष्टि में भटकने वाली मानव-दृष्टि अपने अंदर भी थोड़ा गौर करे, तो निश्चय ही उसे अनेक नयी-नयी चीजें प्राप्त होंगी।

मुक्ति क्षेत्र

●

एक बार एक जैन विद्वान् ने हंसते हुए कहा, "आपके यहां पैंतालीस लाख योजन का मोक्ष माना गया है। कितना बड़ा विस्तार है ? क्या इतना लम्बा-चौड़ा स्थान मोक्ष के लिए घेरा गया है ? क्या यह गप नहीं है ?"

मैंने कहा, "मोक्ष के लिए इतना स्थान तो चाहिए ही, क्योंकि वह इन्सान के लिए है। जहां-जहां इन्सान है वहां-वहां मोक्ष है। हमने ऐसा माना है कि इस भूमंडल पर मानव-क्षेत्र पैंतालीस लाख योजन तक है। इसीलिए हमने मोक्ष के स्थान की धारणा भी पैंतालीस लाख योजन की ही की है। मोक्ष का अधिकारी इन्सान है। जब इन्सान अपनी आत्मा पर लगे हुए काले धब्बों को मिटा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

डालता है, तब वह ईर्ष्या, द्वेष और कलह से ऊपर उठ जाता है। जब वह अनासक्त होकर श्रद्धापूर्वक आत्म-शोधन की प्रक्रिया में प्रवृत्त हो जाता है तब वह मोक्ष पा लेता है। उसे एक इंच भी, इधर-उधर होने की, अगल-बगल में गति बदलने की जरूरत नहीं है। वह जहां हो, वहीं रहे, आत्मस्थ रहे। वस्तुतः वहीं से ऊर्ध्व-मुख अमृत की धारा बह रही है।" यह सुनकर वे अजैन विद्वान् हंसे और बोले कि "मोक्ष-सिद्धि के लिए बड़े गजब का रूपक है यह।" तो मैंने कहा, "यह बनावट नहीं है, बल्कि जैन तत्त्व-चिंतन की अपनी एक विशेषता है।"

जैन धर्म अहिंसा की अमृत-गंगा का पावन स्रोत अपनी आत्मा के अंदर ही ढूंढता है। यही मेरे कहने का सार था।

वह गंगा कौनसी है जो हमारे ही अंदर वह रही है? वह अहिंसा और सत्य की गंगा है जो हमारी नस-नस में प्रवाहित है। यदि हम उस पावन गंगा में स्नान नहीं करेंगे तो हमारा जीवन पवित्र नहीं हो सकेगा।

जीवन को पवित्र करने के लिए अहिंसा एक जीवन गंगा है, जिसमें अवगाहन करने के बाद मानवता का संपूर्ण विकास हो जाता है और दंभ व शोषण का जो नकाब मानवता के सुंदर चेहरे पर आज पड़ गया है, वह सहज ही फट जाता है।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अहिंसा की कसौटी

हमारा शरीर कितना ही वलवान क्यों न हो, मजबूत क्यों न हो और लम्बा-चौड़ा भी क्यों न हो, लेकिन जब तक उसमें चैतन्य की धारा वह रही है, तब तक ही सब कुछ है, अन्यथा वह शरीर नहीं, शव कहलाता है। अर्थात् यह शरीर चैतन्य के आधार पर ही चलता है। चैतन्य के अभाव में यह भारी भरकम शरीर भी व्यर्थ साबित होता है। उसी तरह सारे धर्मों का आधार अहिंसा है। क्योंकि जिस तरह आत्मा के बिना शरीर शव है, उसी तरह अहिंसा के बिना धर्म निष्प्राण है। अहिंसा से शून्य धर्म, धर्म नहीं, केवल कपोल-कल्पना मात्र है। कोई भी धर्म कितना ही ऊंचा क्यों न हो, उसका क्रियाकांड कितना ही उग्र या घोर क्यों न हो, उसकी तपस्या कितनी ही तीव्र क्यों न हो; किन्तु जब तक अहिंसा की भावना उसमें विद्यमान नहीं रहेगी, तब तक वह धर्म अपना कोई मूल्य नहीं रखता। हमारा जीवन-धर्म तभी विराट् स्वरूप ग्रहण करता है जब उसमें अहिंसा की भावना का स्रोत फूट पड़ता है। जीवों के प्रति दया का झरना बहने लगता है, पीड़ितों के लिए संवेदना स्पंदित होने लगती है। जिस प्रकार मुझे जीने का हक है, उसी प्रकार दूसरों को भी जीने का हक है। सब जीना चाहते हैं, सब सुख चाहते हैं, सब आनन्द चाहते हैं। कोई भी मरना नहीं चाहता, दुख और पीड़ा भुगतना नहीं चाहता।

अहिंसा का स्थान ईश्वर से कम नहीं है। भगवान् महावीर ने अहिंसा को भगवती का नाम दिया। क्योंकि मनुष्य के हृदय में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जितनी श्रद्धा भगवान् के प्रति होती है, उतनी ही श्रद्धा अहिंसा के प्रति भी होनी चाहिए। अहिंसा निश्चय ही पूजा की चीज है और श्रद्धा का केन्द्र है। भगवान् के दर्शन प्राप्त करने के लिए कहीं दूर जाने की जरूरत नहीं है। भगवान् तो हमारे अन्दर बैठा है। उस विराट् स्वरूप के भगवान् को हिंसा के काले परदे ने छुपा रखा है। यदि हम उसके दर्शन करना चाहते हों, तो अपनी पूरी शक्ति के साथ इस काले परदे को हटा देना चाहिए। यदि हम अपने अन्दर विराजमान इस भगवत् तत्त्व को नजर-अंदाज करते हुए चलेंगे, ठुकराते रहेंगे, उसकी ओर से पीठ मोड़कर रहेंगे तो हमें उस परम तत्त्व के दर्शन कैसे होंगे ?

विकार वासनाओं के रूप में—दंभ, द्वेष और ईर्ष्या के रूप में अहंकार, लोभ और क्रोध के रूप में अहिंसा की महान् शक्ति पर हिंसा का जो परदा पड़ा हुआ है, उसे हटाने का उपाय कोई कठिन नहीं है। हमारे मन में जो छोटी-छोटी आसक्तियां हैं, आकांक्षाएं हैं और अभिलाषाएं हैं उनको हम दूर कर दें। मन से ऊपर उठने की साधना करें, अतिमनस् जगत की ओर चलें। बस, हमें उस महान् तत्त्व के दर्शन सहज हो जाएंगे। उसके लिए कहीं बाहर संघर्ष नहीं करना होगा। कहीं भी भटकने की जरूरत नहीं पड़ेगी। किसी खास समय की भी जरूरत नहीं होगी। चाहे हम दूकान में रहें, या घर में रहें, या मंदिर में रहें, कहीं भी रहें, यदि हमारी आंखों के सामने, हमारे विचारों के सामने, हमारी जीवन-साधना के सामने, हमारे छोटे-बड़े कामों के सामने अहिंसा का आदर्श लिखा हुआ रहेगा तो हम सहज उस भगवत् तत्त्व के दर्शन करने में समर्थ हो सकेंगे। अपनी मनोवृत्तियों को, अपने कर्मों को अहिंसा के तराजू में तोलने की जरूरत है। यदि हम छोटी-छोटी मानसिक उलझनों में उलझे रहेंगे, यदि हम मान-अपमान,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यश-अपयश इत्यादि चीजों में भटके रहेंगे तो भगवत् तत्त्व के दर्शन कभी नहीं हो सकते।

मन से ऊपर

श्री अरविंद ने अतिमनस् जगत् के संबंध में अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन किया है। वे योग के बल पर अतिमनस् की साधना करके इस धरती को एक ऐसी पावन और स्वर्गमय धरती बना डालने की कल्पना करते थे जिसमें कोई दुख नहीं होगा, दीनता नहीं होगी, युद्ध नहीं होगा, संकीर्णता नहीं होगी, सांप्रदायिकता नहीं होगी। यदि उनकी कल्पना की गहराई तक हम पहुंचें और यह समझने की कोशिश करें कि उनका वह चिंतन क्या था, तो हमें अनायास ही यह मालूम हो जायगा कि उनका विचार कोई आकाश-कल्पना या अव्यावहारिक आदर्श नहीं था। इस धरती पर सब कुछ संभव है। यदि मनुष्य अपने मन पर नियंत्रण कर सके, यदि वह अपने मन की दासता से मुक्ति पा सके और यदि वह अपने मन की छोटी-मोटी उलझनों से ऊपर उठ सके।

आचार्य समन्तभद्र ने कहा कि साधक का परब्रह्म कहाँ है? परमेश्वर या परमात्मा कौन है? और कोई नहीं। इस संसार के प्राणियों के लिए, विशिष्ट साधकों के लिए, आत्मा का संशोधन करने वालों के लिए अहिंसा ही परब्रह्म है। अहिंसा ही परमात्मा है और अहिंसा ही परमेश्वर है।

भगवान् अनंत होता है, असीम होता है और अपरिमित होता है। यदि अहिंसा भगवान है, तो वह भी असीम एवं अपरिमित है। उसकी परिभाषा को थोड़े-से शब्दों में बांध सकना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अत्यन्त अठिन कार्य है। शब्द दुर्बल होते हैं, कमजोर होते हैं और अहिंसा व्यापक चीज है। इसलिए शब्दों में यह क्षमता नहीं है कि अहिंसा की संपूर्ण परिभाषा को वे अपने में वहन कर सकें।

आत्मा का सब से बड़ा गुण ज्ञान है। यदि ज्ञान का प्रकाश हमारे जीवन में न हो, तो हम अंधेरे में भटक-भटक कर अपनी प्राणशक्ति खो बैठेंगे। लेकिन यदि हमारे पास ज्ञान का दीपक होगा तो इस सारे संसार में फैले हुए अन्ध-श्रद्धा के अन्धेरे को मिटाने में हम समर्थ हो सकेंगे। आज हमें किसी और चीज की जरूरत नहीं है। केवल ज्ञान का दीपक जला देने की जरूरत है। अन्तर में ज्ञान का दीपक जलते ही अन्धी मान्यताओं का अन्धकार, बिना इजाजत लिये नौ दो ग्यारह हो जायगा।

मानव या दानव

वास्तव में आज के मनुष्य के सामने सब से बड़ा सवाल एक ही है कि उसे मानव बनना है या दानव? हालांकि यह सवाल बड़ा विचित्र लगता है, क्योंकि मानव मानव तो है ही, दानव होने का प्रश्न ही कहां उठता है? लेकिन फिर भी जब आज सभी विचारकों के सामने वह प्रश्न बड़े व्यापक रूप में उपस्थित हुआ है, तो उस पर हमें विचार करना ही होगा। मानव और दानव का भेद जाति से अथवा शरीर से नहीं, बल्कि वृत्तियों से करना चाहिए। मानवीय वृत्तियां एवं दानवीय वृत्तियाँ ये दोनों समान रूप से वातावरण में कार्य करती रहती हैं। यदि हम दानवीय वृत्तियों को ग्रहण कर लेते हैं तो दानव बन जाते हैं और यदि हम मानवीय वृत्तियों को ग्रहण करते हैं तो मानव बन जाते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनादि काल से हम देखते आये हैं कि प्राणी मानवता के मार्ग को छोड़कर दानवता के कुपथ पर भटक जाता है। सारा इतिहास साक्षी है कि मनुष्य ने दानव बनकर इतनी बीभत्स हिंसा के नृत्य किये कि जिनके बारे में कल्पना भी नहीं की जा सकती। उसने निरीह प्राणियों के खून से जमीन को रंग दिया। फिर भी उसे अपने इस महान् संकल्प की याद नहीं आयी कि मैं मानव हूँ, मुझे सच्चे अर्थ में मानव बनना है।

यह संसार-चक्र बहुत बड़ा है। इस चक्र में जीव अनेक गतियों में, अनेक स्थितियों में, और अनेक योनियों में भटकता रहता है। वह भी एक बार नहीं, अनन्त बार भटकता है। फिर भी वह यह निर्णय नहीं कर पाता कि मुझे मानव बनना है या दानव ? क्योंकि जिस दिन प्राणी के हृदय में या मस्तिष्क में यह विचार आ जाता है कि मुझे दानव नहीं, बल्कि मानव बनना है, उसी दिन वह अहिंसा की ऊंची भूमिका पर जा बैठता है। फिर उसे संसार की भयानकता में चक्कर काटने की जरूरत नहीं रहती। क्योंकि मानवता का अहिंसा के साथ वैसा ही संबंध है, जैसा ऊष्णता का अग्नि के साथ। बिना अहिंसा के मानवता जीवित नहीं रह सकती। जब मन में अहिंसा की ज्योति जलने लगती है, प्रेम का स्रोत बहने लगता है, विश्व-एकता की भावना जाग उठती है, तब सच्चे अर्थों में मानवता पनपती है और अहिंसा का विराट् रूप जीवन में अवतरित होता है। फिर भगवत् चेतना के दर्शन होते हैं, फिर दुष्कर्म और पाप भाग खड़े होते हैं, फिर मानव सुख की साँस लेता है, फिर आत्मा अनंत आनंद में विचरण करने लगती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सब समान हैं

भगवान् महावीर ने अपने शिष्यों को उपदेश देते हुए कहा कि हे शिष्यो, इस दुनिया में जितनी भी आत्माएं हैं, उन सब में एक समान चेतना है। सभी आत्माएं समान रूप से सुख चाहती हैं। इसलिए समस्त सृष्टि के प्राणियों को अपनी ही आत्मा के समान समझो। जिस काम से तुम्हारी आत्मा को कष्ट होता है, वह काम तुम दूसरों के प्रति भी मत करो। दूसरों से तुम जैसा व्यवहार अपने लिए चाहते हो, वैसा ही व्यवहार तुम दूसरों के प्रति भी करो। जिस दिन तुम्हें अपनी आत्मा में और दूसरे की आत्मा में कोई अन्तर नहीं मालूम होगा उसी दिन तुम्हारी अहिंसा की साधना सफल होगी, अन्यथा अहिंसा का नाम केवल आडम्बर मात्र रह जायेगा। भगवान् महावीर का यह उपदेश हमारी वर्तमान समाज-रचना के लिए अत्यंत उपादेय है। यह उपदेश केवल महावीर ने ही नहीं दिया। प्रकारान्तर से अद्वैत के प्रतिपादक आचार्यों ने भी यही कहा कि इस संपूर्ण सृष्टि में एक ही चेतना है। यदि किसी काम से हमें दुख हो सकता है, तो उसी काम से दूसरों को भी दुख होगा। क्योंकि हमारी चेतना में और दूसरे की चेतना में कोई भेद नहीं है।

अहिंसा की यही कसौटी है। जिस दिन व्यक्ति अपने आप में जीने का अधिकार चाहेगा, उसी दिन वह दूसरे को भी जीने का अधिकार अवश्य देगा। यदि वह दूसरे को जीने का अधिकार नहीं देना चाहता तो उसे भी जीने का अधिकार नहीं मिलेगा।

कभी-कभी हम मोह-माया में आसक्त होकर ऐसा सोचने लगते हैं कि "मेरे लगी सो तो दिल में और दूसरों के लगी सो दीवार में"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यानी चोट लगने पर जैसा दुख मुझे होता है, वैसा दूसरों को नहीं होता। लेकिन वास्तव में ऐसा समझना निहायत भ्रमपूर्ण है और आसक्ति का परिचायक है।

एक बार भगवान् महावीर से एक शिष्य ने पूछा कि प्रभु, आपने हिंसा क्यों छोड़ी? और अहिंसा के पथ पर क्यों आये? अनेक कष्ट और पीड़ाएं सहन करते हुए भी इस दुर्गम मार्ग से आप क्यों चल रहे हैं? तब भगवान् महावीर ने उत्तर देते हुए कहा कि प्रत्येक प्राणी के मन में अपने जीवन के प्रति आदर और आकांक्षा है। सभी अपनी सुख-सुविधा के लिए सतत् प्रयत्नशील हैं। सब जगह अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष हो रहा है। अतः जैसा मैं हूं, वैसे ही सब हैं, ऐसा सोचकर मैंने हिंसा का त्याग किया है और दूसरों को कष्ट देना छोड़ा है। यदि स्वयं को सताया जाना पसन्द होता तो दूसरों को सताना न छोड़ते। यदि स्वयं को मारा जाना पसन्द होता तो दूसरों को मारना भी न छोड़ते। लेकिन सब जीवन सुख के लिए तरसते हैं और दुख से घबड़ाते हैं। इसलिए अहिंसा को ही परम धर्म मानकर मैंने उसे स्वीकार किया है।

पाप और पुण्य

●

इस प्रकार अहिंसा की सच्ची कसौटी अपनी ही आत्मा है। धर्म और अधर्म, पुण्य और पाप और कुछ नहीं, केवल अपनी आत्मा के सम्बन्ध में अपने ही दृष्टिकोण के ये भिन्न-भिन्न अंग हैं भिन्न-भिन्न पहलू हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि हम जिसे धर्म मानते हैं, दूसरा उसे अधर्म समझ बैठता है। हम जिसे पुण्य कहते हैं, दूसरा उसे पाप कह देता है। लेकिन धर्म और अधर्म की, पुण्य और पाप की, भले और बुरे की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सबसे बड़ी कसौटी अपनी ही आत्मा है। उसी कसौटी पर हमें जीवन के प्रत्येक प्रश्न को कसना चाहिए। अनेक समाज हैं, उनकी अनेक समस्याएं हैं, अनेक प्रश्न हैं, उनके अनेक प्रकार के सम्बन्ध हैं, उन सब सम्बन्धों की सुरक्षा और उन सब प्रश्नों का उचित समाधान पाने के लिए सबसे बड़ा सूत्र हमारी अपनी अनुभूति में निहित है। यदि कोई हमें मारता हो, गाली देता हो, धन छीनता हो, हमारी बहन-बेटियों के साथ अभद्र व्यवहार करता हो, उस समय हमारे मन की अनुभूतियां झनझना उठती हैं। हमारे संस्कार बगावत करने लगते हैं। हमारी भावनाओं में विद्रोह भर जाता है। तब हम सहसा कह उठते हैं कि यह कैसा अधर्मी और पापी है? अधर्म और पाप वही है जिससे किसी दूसरे को कष्ट पहुंचे, समाज में असभ्यता और असंगतियां पैदा हों, अव्यवस्था और अनुशासन-हीनता को प्रश्रय मिले।

पाप और पुण्य की परिभाषा को ढूंढ़ने के लिए यदि हम हजार-हजार ग्रन्थों के हजार-हजार पृष्ठों को भी उलट देंगे, तब भी हमें उसकी परिभाषा नहीं मिलेगी। पोथियों को रगड़ने से या उनको सिर पर लादे रहने से कभी किसी प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता। सबसे बड़ी चीज आत्म-मंथन है, चिन्तन और मनन है। यदि हम अपने विवेक को जागृत करके बुद्धि की खिड़कियों को खोलकर के सोचने का, समझने का और ग्रहण करने का प्रयत्न करेंगें, तो हमें कोई परेशानी नहीं होगी।

एक मुसलमान हिन्दू स्त्री के अपहरण में धर्म समझ लेता है। एक हिन्दू मुसलमान स्त्री को बेइज्जत करने में धर्म मान बैठता है। तो क्या इन दोनों के लिए ऐसा करना धर्म हो जायेगा? जब हमारी स्त्री के अपहरण से हमें दुख होता है, तो हम दूसरे की स्त्री के अपहरण को धर्म कैसे कह सकते हैं?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

केवल ऊंचे-ऊंचे आदर्शों की कल्पनामात्र से वास्तविक जीवन के प्रश्न हल नहीं होते। आकाश में उड़ते रहने से धरती की समस्याओं का समाधान नहीं होता। हमें आकाश का धर्म नहीं चाहिए। हमें आकाश के आदर्श की भी जरूरत नहीं है। हम तो धरती के प्राणी हैं। धरती पर रहते हैं। इसलिए धरती के धर्म और धरती के आदर्शों को ही स्वीकार करते हैं। कभी-कभी कुछ लोग कह बैठते हैं कि यह सारा संसार मिथ्या है, स्वप्न है, असत्य है। किन्तु जब वे चार-पांच दिन के भूखे हों और उनके सामने मिठाइयों का थाल आ जाय, तब वे उन मिठाइयों को स्वप्न और मिथ्या मानते हैं या वास्तविक ? यह एक ऐसा प्रश्न है जो अन्ध श्रद्धा में गले तक पगे हुए लोगों के दिमाग को भी झकझोर डालता है। इसलिए मैं इन सब कल्पना प्रधान जटिल प्रश्नों के विस्तार में जाना नहीं चाहता। मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूं कि धर्म जीवन के समस्त मूलभूत प्रश्नों से सम्बन्ध रखता है। जीवन से अलग धर्म को कोई स्थान नहीं है। धर्म वही है जो हमारे उच्च जीवन का निर्माण करता है।

न मारना और बचाना

अहिंसा के विस्तार में न मारने की बात और बचाने की बात बार-बार उठती है। कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि किसी को न मारना ही अहिंसा है। और कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि किसी मरते प्राणी को बचा देने मात्र से उन्हें अहिंसा का पूरा लाभ मिल जायगा। पर वास्तव में दोनों बातें भ्रमपूर्ण हैं। एक व्यक्ति प्यासा मर रहा है, तड़प-तड़प कर प्राण दे रहा है, निरीह और असहाय होकर पानी की याचना कर रहा है। उस समय यदि कोई आकर ऐसा कहे कि मेरी अहिंसा तुम्हें बचाने की इजाजत नहीं देती, तुम्हें बचाना असंयम को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पोषण देना है। मेरी अहिंसा तो इतना ही कहती है कि मैं तुम्हें मारूं नहीं। उसका यह कहना कितना मूर्खतापूर्ण लगेगा। वहां किसी को न मारने का प्रश्न ही कहां उठता है ? इस तरह से अहिंसा का उपहासास्पद स्वरूप प्रगट करने वाले अहिंसा के वास्तविक रहस्य से अनभिज्ञ हैं। वे नहीं जानते कि मानव जीवन में सेवा और करुणा का, सहानुभूति और दया का कितना बड़ा स्थान है। वह जीवन निकम्मा जीवन है जिस जीवन में इस तरह की दया के लिए स्थान न हो। इस सम्बन्ध में अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं। अनेकों व्याख्याएं की जा सकती हैं। लम्बा-चौड़ा विश्लेषण भी किया जा सकता है। पर उतने विस्तार में जाने की जरूरत नहीं है। सबसे बड़ी और बहुत मोटी बात इतनी ही है कि न तो केवल किसी को बचाना मात्र ही अहिंसा है और न किसी को न मारना ही अहिंसा है; सर्वत्र निर्मल विवेक और विचार की आवश्यकता है। अहिंसा केवल बाहर में न मारना अथवा बचाना, इतना सा दिखावा नहीं है। बल्कि अहिंसा हृदय की वह सहज सहानुभूति है, करुणा है, सेवा है, दया है जो बरबस फूट पड़ती है। प्राणिमात्र को बिना किसी भेदभाव के अपने संरक्षण में ले लेती है। इसके अतिरिक्त अहिंसा की वे सब परिभाषाएं निकम्मी हैं जो हमें तर्क-वितर्क में उलझाती हैं, शास्त्रार्थ और वितंडावाद के लिए प्रेरित करती हैं; साथ ही जीवन के मूलभूत प्रश्नों से दूर रखकर ग्रन्थों के शुष्क और नीरस प्रमाणों में उलझाती हैं। जो अहिंसा आत्मा की चीज है, उस अहिंसा को यदि हम ग्रन्थों में, किताबों में, पोथियों में ढूंढने की कोशिश करेंगे, तो वह कहां से मिलेगी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीयें कैसे ?

गौतम ने महावीर से पूछा कि हे भगवन्, यह जीवन पापमय है। खाना-पीना, उठना-बैठना, चलना-बोलना सब कहीं पाप ही पाप है। इसलिए आप ऐसा रास्ता बताइए कि जिससे हम पापमुक्त होकर जी सकें। तब भगवान् महावीर ने बहुत ही सीधा लेकिन बहुत ही महत्त्वपूर्ण उत्तर दिया। उन्होंने कहा कि न चलना पाप है, न खाना पाप है, न बोलना पाप है, न सोना पाप है, बशर्ते कि तुम विवेक के साथ खाओ, विवेक के साथ रहो, विवेक के साथ बोलो और विवेक के साथ चलो। जीवन के ये बाहरी कार्य न पाप हैं, न पुण्य हैं। सबसे बड़ा पाप है अविवेक-अयतना। यदि विवेक के साथ यानी यतना के साथ जीवन जीते हो तो वह जीवन संसार के लिए, समाज के लिए और तुम्हारे अपने लिए सुखदायक होगा।

महावीर के कहने का आशय केवल इतना ही था कि धर्म और अहिंसा की सच्ची कसौटी विवेक ही है। जहां विवेक है, वहां अहिंसा है और जहां विवेक नहीं है, वहां अहिंसा भी नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिंसा के दो प्रकार

अहिंसा को समझने से पहले हिंसा को समझ लेना अनिवार्य है। आखिर हिंसा क्या है, वह कैसे होती है, उसके लिए किन परिस्थितियों में मनुष्य मजबूर होता है; इत्यादि प्रश्नों पर हम विचार करें।

अहिंसा का साधारणतया अर्थ है—हिंसा का न होना। इस प्रकार शब्द शास्त्र की दृष्टि से अहिंसा, हिंसा का एक नकारात्मक भाव है। इसलिए हम अहिंसा के अन्दर रहे हुए, हिंसा शब्द की व्याख्या को पहले समझ लें। जैन विचारकों ने हिंसा के दो रूप बताये हैं। एक भाव हिंसा और दूसरी द्रव्य हिंसा। इन दोनों भेदों पर जब हम गहराई से विचार करते हैं, तो हमें ऐसा जान पड़ता है कि उन विचारकों ने संसार के सामने जीवन, सृष्टि और उसकी विभिन्न धारणाओं को बड़े अच्छे ढंग से, व्यक्त कर दिया है।

भाव-हिंसा का अर्थ है मानसिक हिंसा। ऐसी हिंसा, जिसमें सम्भवतः किसी प्राणी की हत्या न हो, कोई जीव न मरे, किसी को हम कष्ट भी न दे पायें, फिर भी हमारी आत्मा अन्दर से हिंसा के संकल्प से ग्रसित हो जाय, ऐसी हिंसा को भाव-हिंसा कहा गया है।

यह हिंसा ही मानव आत्मा को सर्वाधिक कलुषित करने वाली हिंसा है। जब मन में किसी के प्रति द्वेष जगता है, या मिथ्या संकल्प-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विकल्प पैदा होते हैं, या चोरी, व्यभिचार आदि दुष्कर्म करने के भाव पैदा होते हैं, तब हमारी आत्मा भाव-हिंसा से आप्लावित हो जाती है।

जैसा कि हमने ऊपर बताया—भाव हिंसा से किसी दूसरे का नहीं, बल्कि स्वयं अपना ही नाश होता है। जब हमें क्रोध आता है तो दूसरे का कोई नुकसान भले ही हो या न हो, लेकिन हमारे मन में एक तरह की आग लग जाती है, मस्तिष्क जलने लगता है, विचार कुंठित हो जाते हैं। यही सब-से-बड़ी हत्या है जो दूसरे को नहीं, बल्कि स्वयं को कष्ट देती है।

हिंसा परायण वृत्ति एवं चर्चा से हमारे समाज में और संपूर्ण जीव-जगत् में एक प्रकार की अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। जब हम अपने विचारों का संतुलन खो बैठते हैं और दूसरे जीवों को भी जीने का अधिकार है, यह भूल जाते हैं, तब हम स्वार्थी बनकर, सुख-लोलुप बनकर दूसरों के जीवन को हड़पने के लिए तत्पर हो उठते हैं। बस, तभी हम हिंसा के बन्धनों में बंध जाते हैं।

आदमी बाहर संघर्ष करता है, लड़ाइयां लड़ता है, हजारों सैनिकों को पराजित भी कर देता है, लाखों जीवों के प्राणों का अपहरण भी कर लेता है, फिर भी वह विजयी नहीं कहला सकता। शास्त्रकारों, विचारकों और चिंतकों की दृष्टि में वह तभी विजयी हो सकता है, जब वह अपनी आत्मा के साथ संघर्ष करे, यानी आत्मा को जिन अनंत आंतरिक शत्रुओं ने घेर रखा है, उनको पराजित करे। ये ऐसे शत्रु हैं जो इन मोटी नजरों से दिखाई नहीं देते। हालांकि ये शत्रु बाहरी शत्रुओं से अधिक खतरनाक और भयंकर होते हैं। बाहरी शत्रु केवल प्राण लेते हैं; लेकिन ये आंतरिक शत्रु आत्मा के सद्गुणों को नष्ट कर देते हैं। अतः भगवान् महावीर ने बार-बार यह कहा है कि बाहर के शत्रुओं से नहीं, बल्कि अन्दर के शत्रुओं से युद्ध करो और उस युद्ध में विजयी बनो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्रव्यहिंसा

केवल द्रव्यहिंसा क्या है ? व्यक्ति अन्दर में स्वच्छ है, निर्मल है, निर्वैर है। किसी को कुछ भी कष्ट नहीं देना चाहता, अपितु सबका संरक्षण ही चाहता है, फिर भी जीवन के विविध प्रवृत्ति-चक्रों में यदि किसी प्राणी का हनन हो जाए, तो वह द्रव्य हिंसा है। द्रव्य का अर्थ स्थूल है। अर्थात् इस प्रकार की हिंसा केवल कहने मात्र की हिंसा है, वास्तविक हिंसा नहीं।

किसी के द्वारा किसी जीव का मर जाना मात्र ही अपने आप में हिंसा नहीं है, अपितु क्रोध भाव से, मोह भाव से, माया भाव से या लोभ-भाव से किसी जीव के प्राणों को नष्ट करने की दुर्वृत्ति ही हिंसा है। जैन विचारकों ने कहा है कि "प्रमत्त योगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" (—तत्वार्थ सूत्र ७-१३) याने प्रमादवश किसी के प्राणों का अपहरण ही हिंसा है। उक्त कथन का अर्थ इतना ही है कि हिंसा का मूल आधार कषाय-भाव है। बाहर में किसी की हिंसा हो या न भी हो, किन्तु अन्दर में कषाय-भाव है, राग द्वेष है, तो वह हिंसा है। इसके विपरीत जो साधक कषाय-भाव में न हो, प्रमाद अवस्था में न हो, फिर भी यदि उससे किसी के प्राणों की हिंसा हो जाय तो वह द्रव्य हिंसा है, भाव हिंसा नहीं। ऐसी हिंसा बाहर में प्राण-नाशक होते हुए भी हिंसा नहीं मानी जाती। वीतराग आत्माओं की यही स्थिति है। क्योंकि वे राग-द्वेष से मुक्त हैं; इसलिए समस्त प्रकार की हिंसाओं से भी मुक्त हैं। उनके शारीरिक हलन-चलन से जो हिंसा होती है, वह पापमूलक भाव-हिंसा नहीं कही जाती। वीतराग पथ का यात्री अप्रमत्त साधक भी जितने अंश में राग-द्वेष से अप्रभावित रहता है, उतने अंश से वह बा हिंसा होने पर भी पाप का भागी नहीं होता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक साधु विवेकपूर्वक भिक्षा के लिए जाता है या कोई गृहस्थ विवेकपूर्वक गमन क्रिया करता है, उस समय उसके अन्तस् में किसी भी जीव को मारने की भावना नहीं है, फिर भी यदि अनजान में कोई जीव मर जाते हैं तो यही कहा जायेगा कि उसने जीवों को मारा नहीं, किन्तु वे जीव स्वयं मर गये। इस प्रकार के जीवों के मरने में पाप-बंध नहीं होता। यही बात आचार्य भद्रबाहु ने भी कही है। उन्होंने कहा है कि अपने नियमों के साथ यदि कोई साधक विवेक-पूर्वक चलने के लिए पांव उठाये, फिर भी अचानक यदि कोई जीव उसके नीचे आकर मर जाय तो उस साधक को उस जीव के मरने से कोई पाप नहीं होगा, क्योंकि साधक की भावना पूर्णतया निर्मल है और वह पूर्णतया अपने नियमों में सजग है। जैसे कमल का फूल कीचड़ में पैदा होता है, कीचड़ में ही बढ़ता है और कीचड़ में ही रहता है, फिर भी वह स्वयं कीचड़ से सर्वथा निर्लिप्त रहता है, वैसे ही अपने नियमों और मर्यादाओं में जागरूक साधक जीवाकुल संसार में विचरण करते हुए भी पाप से लिप्त नहीं होता। क्योंकि उसके अन्तःकरण में करुणा का अखंड स्रोत बहता रहता है।

हिंसा के ये जो दो रूप बताये गये हैं, वे बहुत सीधे हैं और सहज-गम्य हैं। मुख्य प्रश्न यही है कि साधक को भाव हिंसा से यथा-संभव बचते रहना चाहिए और यदि भाव-हिंसा से हमारा छुटकारा हो जाता है, तो द्रव्य हिंसा के लिए कोई खास परेशानी की बात नहीं रहेगी।

यह संपूर्ण जगत एक प्रकार से हिंसामय ही है। चारों ओर के वातावरण में हमें ऐसा दिखता है कि एक जीव दूसरे जीव को निगल जाने के लिए प्रयत्नशील है। बड़ा छोटे पर हावी होता रहता है। बलशाली निर्बल को दबोच डालना चाहता है। "जीवो जीवस्य जीवनम्", ऐसा कहा भी जाता है। हम राजनैतिक और आर्थिक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीवन में भी यही देखते हैं। बड़ा राष्ट्र छोटे राष्ट्र पर कब्जा करना चाहता है। धनवान् व्यक्ति गरीबों का शोषण कर के धनवान बने रहने को कृत संकल्प है। ऐसी बीहड़ परिस्थिति है। इस परिस्थिति में से हमें अपने आपको बचाना है। केवल अपने आपको ही नहीं, आसपास के समाज को भी बचाना है। यदि हम यह मान लें कि सारी दुनिया में भले ही हिंसा होती रहे, हमें उससे कोई मतलब नहीं, तो यह एकांगी चिंतन ही माना जायेगा। सर्वांगीण दृष्टि से सोचा जाय तो व्यक्ति अकेला नहीं है। वह सामाजिक प्राणी है। इसलिए समाज में चलने वाली हिंसा के प्रति वह भी उत्तरदायी है। इस संदर्भ में हर व्यक्ति को ऐसी कोशिश करनी चाहिए कि समाज में फैली हुई हिंसा रुके तथा अहिंसा का प्रचार हो। केवल वैयक्तिक अहिंसा या वैयक्तिक साधना से पूरा समाज नहीं सुधरेगा। वैसी साधना का अब युग भी नहीं है। जब तक समाज में हिंसा फैली हुई है, जब तक समाज में पाप फैला हुआ है, भ्रष्टाचार और अन्याय बढ़ा हुआ है, तब तक हम हिंसा से प्रत्यक्ष रूप में सम्बन्धित न होते हुए भी यदि उस ओर उपेक्षा रखते हैं, तो उस हिंसा के प्रति जिम्मेदार हैं। यह प्रत्यक्ष जिम्मेदारी हमें महसूस करनी चाहिए। क्योंकि यदि हम उस जिम्मेदारी से बचेंगे; तो समाज के प्रति हमारा जो कर्तव्य है, उसे भूल जायेंगे। यदि उस सामाजिक जिम्मेदारी के प्रति हम उदासीनता बरतेंगे, तो हमारा दृष्टिकोण अत्यन्त संकुचित हो जायगा। इन सारी बातों को सोचते हुए और यह समझते हुए कि समाज से हमें बहुत कुछ मिला है, इसलिए समाज की सेवा करना भी हमारा धर्म है, हमें समाज में फैली हुई हिंसा को रोकने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समग्र-साधना

अहिंसा को जब हम जीवन में उतारने के लिए चलते हैं, तब हमारे सामने तीन प्रकार आते हैं। अर्थात् मन से, वचन से और शरीर से अहिंसा की साधना होनी चाहिए। यदि अहिंसा को सर्वांगीण रूप से सिद्ध करना है और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हिंसा से बचना है तो अहिंसा को मन, वचन और शरीर से साधना होगा।

शरीर पर नियन्त्रण रखने से शरीर के द्वारा होने वाले पाप रुक जाते हैं। इसी तरह वचन और मन पर अंकुश लगा देने से वचन और मन के पाप भी रुक जाते हैं। अब हम आसानी से यह समझ सकते हैं कि कर्म-बन्धनों से दूर रहने के लिए हमें तीनों ही द्वार बन्द करने होंगे। मन, वचन और शरीर, ये तीनों हिंसा और अहिंसा की आधार-भूमिकाएं हैं।

एक-एक भेद के भी तीन-तीन उपभेद होते हैं। जैसे शरीर से हिंसा करना, हिंसा करवाना और हिंसा करने वाले का समर्थन करना। इसी तरह वचन से और मन से भी करना, करवाना और समर्थन करना। अब प्रश्न उठ सकता है कि आखिर जो पाप बन्धन होते हैं, वे स्वयं हिंसा करने से ज्यादा होते हैं या करवाने से या समर्थन करने से? प्रायः सर्वसाधारण हिंसा के स्वयं करने में ही ज्यादा पाप मानते हैं, परन्तु यह एकान्त सत्य नहीं है। कभी-कभी स्वयं हिंसा करने से उतना पाप नहीं होता, जितना करवाने से हो जाता है। इसलिए हिंसा के कम और ज्यादा होने का कोई एक स्थूल थर्मामीटर अथवा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मापदण्ड नहीं बनाया जा सकता। हमने पहले इस बात को काफी स्पष्ट कर दिया कि हिंसा और अहिंसा का अथवा पाप और धर्म का माप-दण्ड विवेक है। किसी भी तरह का बाह्य क्रिया-कर्म नहीं। कभी-कभी ऐसा होता है कि हम खुद तो सब प्रकार की हिंसाओं, पापों और असत् कार्यों से अपने आपको निवृत्त कर लेते हैं, परन्तु दूसरों से वही काम निर्दयतापूर्वक करवाते रहते हैं। फिर मन में ऐसा समझ लेते हैं कि हमने तो कुछ किया ही नहीं। और जब हमने कुछ किया ही नहीं, तो हमें पाप कैसे लगेगा ? जिसने प्रत्यक्ष रूप से पाप किया है, उसी को पाप लगना चाहिए। इस तरह से हम अपने मन को भुलावे में डाल लेते हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि अगर हमारे निमित्त से, हमारी आज्ञा से हमारे किसी भी प्रत्यक्ष या परोक्ष संकेत से कोई भी पाप होता है, तो उसमें हमारा भी पूरा उत्तर-दायित्व है।

अगर हम अपनी ओर से किसी भी व्यक्ति को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष थोड़ा भी कष्ट देते हैं, तो उसमें हिंसा तो होगी ही। यहां तक कि अगर एक मजदूर भार लेकर चल रहा है और एक-एक कदम बोझ से लदा चला आ रहा है, वह हांफ रहा है, पसीने से लथपथ है, तो उसे रास्ते से हटने के लिए भी नहीं कहना चाहिए। चाहे कोई राजा हो, या साधु-सन्त हो, उस मजदूर के लिए सबको हट जाना चाहिए। रास्ता दे देना चाहिए। सभ्यता और संस्कृति की आत्मा को समझने वाला हर व्यक्ति इस बात से इन्कार नहीं करेगा। यदि बच्चे को रास्ता देना हो, तो भी सबसे पहले देना चाहिए। यदि किसी बूढ़े को रास्ता देना हो तो भी सबसे पहले देना चाहिए। फिर किसी स्त्री को रास्ता देना हो तो उसे भी प्राथमिकता देनी चाहिए। यथा प्रसंग किसी साधु, सन्त एवं अतिथि आदि को रास्ता देना हो तो उसे भी प्राथमिकता देनी चाहिए। और इन सब में भी यदि किसी श्रमिक को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रास्ता देना हो तो सर्वप्रथम श्रमिक को भाराक्रान्त अन्तर्व्यथा को लक्ष्य में रखते हुए उसे प्राथमिकता देनी चाहिए।

प्रवृत्ति-निवृत्ति

●

प्रवृत्ति और निवृत्ति ये जीवन के दो मुख्य अंग हैं। कोई भी चिन्तक जब धर्म और अधर्म के बारे में सोचता है, तब उसके सामने प्रवृत्ति और निवृत्ति प्रश्न चिह्न के रूप में सामने आकर खड़ी हो जाती हैं। कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि प्रवृत्ति करना धर्म है और कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि पूर्णतः निवृत्ति ही धर्म है। किन्तु हमें सोचना चाहिए कि ये दोनों विचार एकांगी हैं। मुख्यतः मानव सामाजिक प्राणी होने के नाते प्रवृत्ति-परायण होता है। वह समाज की किसी भी प्रवृत्ति से मुंह नहीं मोड़ सकता। मोक्ष, धर्म, ईश्वर इत्यादि की केवल एकांगी बातें करके अपने आपको प्रवृत्ति से मुक्त कर लेना बुद्धिमानी नहीं है। धर्म, ईश्वर और साधना की बातें वैयक्तिक जीवन में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं, लेकिन उनका भी समाज के साथ पूरा संबंध है। जो धर्म, जो साधना और जो संस्कृति जीवन और समाज से संबंधित नहीं है, वह धर्म, साधना और संस्कृति व्यर्थ की चीज साबित हो जाती है। धर्म का लक्ष्य ही समाज को धारण करना है। 'यस्मात् धार्यते प्रजा।' जो धर्म समाज को धारण नहीं करता, समाज की निःश्रेयस एवं अभ्युदय मूलक प्रवृत्तियों से मुंह मोड़ता है, समाज के विकास की दिशा में अपने आप को जोड़ता नहीं है, वह धर्म अपने लक्ष्य से दूर भटक जाता है। इसलिए प्रवृत्ति से घबराना नहीं चाहिए। कुछ साधु लोग ऐसा समझ बैठते हैं कि हमने तो संसार त्याग दिया है, समाज छोड़ दिया है, घर-परिवार छोड़ दिया है, फिर हमें सामाजिक कार्यों से क्या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मतलब ? लेकिन उनकी यह धारणा गलत और भ्रमपूर्ण है। जो साधु समाज से मुंह मोड़ लेता है, समाज के प्रश्नों को हल नहीं करता, समाज की समस्याओं के बारे में सोचता नहीं, उस साधु को इस समाज में रहने का अधिकार कैसे दिया जा सकता है ? फिर तो उसे पहाड़ों में जाकर एकान्त समाधि लगानी चाहिए। जब हम समाज से अन्न लेते हैं, समाज से कपड़ा लेते हैं, समाज से मकान लेते हैं, समाज से सुरक्षा लेते हैं, तब हमें समाज की यथोचित सेवा भी करनी चाहिए। इस दृष्टिकोण से देखने पर हम यह अच्छी तरह से समझ जायेंगे कि अहिंसा केवल नकारात्मक या निवृत्तिपरायण नहीं है। उसका विधायक पहलू भी है और प्रवृत्तिमूलक दृष्टिकोण भी है।

इस पृष्ठभूमि से यह स्पष्ट हो जाता है कि करने में ज्यादा पाप हैं या करवाने में अथवा अनुमोदन में ज्यादा पाप हैं। जैनधर्म तो अनेकांतवाद का प्रतिपादक धर्म है। हर समस्या को अनेकांत की दृष्टि से हल करना चाहिए। यदि हमारा विचार सुस्थिर है, विवेक अभीष्ट लक्ष्य-बिंदु में केंद्रित है तो किसी कार्य को स्वयं करना अथवा दूसरों से करवाना दोनों ही प्रकार के मार्ग निश्चित रूप से ठीक होंगे। विवेक के द्वारा ही पापों के प्रवाह से बचा जा सकता है। जहां अविवेक का बाहुल्य है, अज्ञान है, आग्रह है, वहां पाप के अधिकाधिक मार्ग खुले हुए हैं।

भोजन बनाने के ही प्रश्न को ले लीजिये। यदि बी० ए० और एम० ए० पढ़ी हुई ऐसी लड़की को, जो भोजन बनाना नहीं जानती, रसोई घर में बैठा दिया जाये तो वह न जाने कितनी अव्यवस्था पैदा कर देगी। ऐसी स्थिति में उस भोजन से घर के वातावरण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। तब आपको यही कहना होगा कि यदि हमने स्वयं भोजन बनाया होता तो शायद यह अव्यवस्था और असंगति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पैदा न होती। इस तरह यदि कोई गुरु स्वयं भिक्षा के लिए जाने के बदले किसी अपने नौसिखिये शिष्य को भिक्षार्थ भेज देता है, तो उससे भी कई तरह की असंगतियां पैदा हो जाती हैं। क्योंकि उस शिष्य को यह पता नहीं होता कि कहां से, कितनी और किस चीज की आवश्यकता है। जिस घर से भिक्षा ले रहा हो, वहां बूढ़ों और बच्चों के लिए कुछ बच रहता है या नहीं ? उसे अन्य प्राणियों की हिंसा का भी कोई ध्यान नहीं रहता। इस प्रकार के प्रसंगों पर दूसरे से काम करवाने की अपेक्षा स्वयं करना ही अधिक अच्छा होता है।

तीसरा प्रश्न है हिंसा के समर्थन का। कभी-कभी न तो व्यक्ति स्वयं हिंसा करता है और न किसी से करवाता है। वह केवल करनेवालों की सराहना करता है। कहीं लड़ाई हुई, लोगों के सिर फूटे, तमाशबीन बाजार के सिरे पर खड़ा होकर उस लड़ाई का आनंद लेता जाता है और कहता है, वाह ! आज बिना पैसे के कैसा बढ़िया तमाशा देखने को मिला है। बड़ा मजा आया। बहुत अच्छा हुआ कि उसका सिर फूटा और उसकी हड्डियों का कचूम्मर निकल गया। ऐसा कहकर लड़ाई का समर्थन करने वाला और लड़ाई की तारीफ करने वाला कितने पापों से बंध जाता है, यह कल्पना की चीज है। लड़ने वालों के दिलों में न जाने क्या भावना थी। उनकी भावनाओं का वेग न जाने कितना तीव्र या मन्द था, लेकिन तीसरे दर्शक ने तो बिना किसी मतलब के व्यर्थ ही अपने मन को कलुषित कर डाला। इस तरह जाहिर है कि कभी-कभी हिंसा करने और करवाने से भी उसका समर्थन करने में अधिक पाप हो जाता है।

एक उदाहरण और लिया जाय। हिटलर विश्व-युद्ध की भयंकर ज्वाला में संसार को झोंक देने वाला शासक माना जाता है। परन्तु जैसा कि कहा जाता है, उसने युद्ध में अपने हाथ से एक भी गोली

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं चलायी और एक भी सैनिक का अपने हाथ से खून नहीं किया। वह फौजों को लड़ाता रहा, लेकिन स्वयं मैदान में नहीं आया। तो क्या यह माना जाय कि प्रत्यक्ष रूप से मैदान में लड़ने वाले सिपाहियों के बजाय हिटलर को हिंसा का पाप कम हुआ? वह कह सकता था कि मैं तो अहिंसक हूं। मैंने लड़ाई नहीं लड़ी। मैंने एक चाकू भी नहीं चलाया। मैंने खून की एक बूंद भी नहीं बहायी। लेकिन उसका यह कहना कोई अर्थ नहीं रखता। क्योंकि उसके एक इशारे पर गांव के गांव नष्ट हो गये। शहर के शहर तबाह हो गये। सारे विश्व में अशान्ति की आग भड़क उठी। इन सब बातों पर जब हम गम्भीरता से विचार करते हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंसा और तज्जन्य पाप की न्यूनाधिकता भावना पर और विवेक शक्ति पर आधारित है, उसका कोई बाहरी माप-दण्ड निर्धारित नहीं किया जा सकता।

जो साधक, पूर्ण अहिंसा की साधना करना चाहते हैं, उन्हें तो तीनों प्रकार से हिंसा पर रोक लगानी चाहिए। हमें इस चक्कर में पड़ने की जरूरत नहीं कि कौन-सा प्रकार ज्यादा हिंसादायी है और कौन-सा प्रकार कम हिंसादायी है। हिंसा, हिंसा ही है। इसलिए हर हालत में तीनों प्रकार से उससे बचने की जरूरत है।

आज समाज की जो परिस्थिति है, उसे देखते हुए अहिंसा को स्वीकार करना अनिवार्य हो गया है। यदि दुनिया अहिंसा को मानकर नहीं चलेगी, तो वह बच नहीं सकेगी। या तो सर्वनाश का मार्ग है या अहिंसा का मार्ग है। क्योंकि विज्ञान ने हिंसा के रूप को बहुत भयंकर बना दिया है। आज पहले जैसे छोटे-मोटे झगड़े को यों ही नहीं चलने दिया जा सकता। छोटे-छोटे दो राष्ट्र आपस में लड़कर एक को हराकर दूसरे पर विजय पाकर आनन्द से शासन करने लगें, ऐसा आज के वैज्ञानिक युग में सम्भव नहीं है। दो छोटे राष्ट्रों की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लड़ाई भी आज विश्व-युद्ध का रूप धारण कर लेती है। उस विश्व-युद्ध में भी तलवार से, बन्दूक से, या तीर-कमान से लड़ाई नहीं होती। आज की लड़ाइयां तो मशीनगनों से या अणु-बमों से होती हैं। हिरोशिमा पर अणुबम गिरा, नागासाकी पर अणुबम गिरा, तो वहां बच्चे, बूढ़े, बीमार, अपाहिज, विद्यार्थी, स्त्रियां सब के सब भस्म हो गये। अणुबम के पास ऐसा विवेक करने की शक्ति नहीं है कि कौन मेरा दुश्मन है और कौन निरपराध। ऐसी विकट परिस्थिति में यदि हम अहिंसा को स्वीकार कर के नहीं चलेंगे, तो कोई चारा नहीं है।

आज दुनिया के जितने बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ हैं, वे एक स्वर से यह मंजूर करते हैं कि युद्ध नहीं होना चाहिए! आपस की समस्याओं का हल प्रेम से, समझौते से, बातचीत से होना चाहिए। यदि हम लड़ें, तो समाज का विकास कुण्ठित हो जायेगा। प्रगति रुक जायेगी। शिक्षा, संस्कृति, सभ्यता और विज्ञान ध्वस्त हो जायेंगे। मानवता अपाहिज हो जायेगी। आध्यात्मिकता पंगु हो जायेगी। सारा संसार एक श्मशान बन जायेगा। युद्ध की ऐसी भयानकता पहले के युगों में नहीं होती थी। लेकिन इस बढ़ते हुए विज्ञान ने हिंसा और युद्ध के रूप को भयंकर बनाकर अहिंसा की अनिवार्यता को सिद्ध कर दिया। अहिंसा के हक में यह बहुत ही अच्छा हुआ है। अब मानव अहिंसा को स्वीकार करने के लिए लालायित हो उठा है। आज जितने राजनीतिज्ञ एक मत होकर अहिंसा की पुकार कर रहे हैं, उतने राजनीतिज्ञ किसी भी युग में सम्भवतः अहिंसा की पुकार करने वाले नहीं थे। विज्ञान ने दूर-दूर बसे हुए राष्ट्रों को नजदीक लाया है। सात समुद्र पार रहने वाले मनुष्यों को एक दूसरे से सम्बन्धित कर दिया है। अमेरिका में रहे आदमियों को हम हिन्दुस्तान में बैठे हुए देख सकते हैं, उनके भाषण सुन सकते हैं, उनसे बात कर सकते हैं। यह नया इतिहास बन रहा है, नया युग बन रहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अहिंसा के दो रूप

किसी जीव पर अनुकम्पा करना, दया करना या अनुग्रह करना अहिंसा है; इस प्रश्न पर किसी का कोई मतभेद नहीं हो सकता। किन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि निग्रह में यानी पापी को या अपराधी को दण्ड देने में अहिंसा है या हिंसा ? यहां इसी गम्भीर प्रश्न पर हमें विचार करना है। आमतौर पर यह माना जाता है कि दंड में अहिंसा नहीं है; क्योंकि जिसे दंड दिया जाता है उसे स्वभावतया कष्ट होता है और जब कष्ट होता है, तो वह अहिंसा कैसे हो सकती है ? यह सहज प्रश्न सामने आता है। परन्तु धार्मिक शासन-व्यवहार में ही हम देखते हैं कि संघ में आचार्य का बड़ा महत्त्व है। आचार्य और गुरु अपने शिष्यों पर अनुशासन चलाते हैं, उनका निग्रह करते हैं और अपराध करने पर उन्हें दंडित भी करते हैं। यदि जैनधर्म के अनुसार अनुग्रह ही अहिंसा है और निग्रह अहिंसा नहीं तो आचार्य के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए, क्योंकि जैन धर्म में हिंसा के लिए कोई स्थान नहीं है। जब हिंसा के लिए स्थान नहीं है, तो हिंसा-स्वरूप दंड के लिए भी कोई स्थान नहीं होना चाहिए। और इसलिए दंड का विधान करने वाले आचार्य के लिए भी स्थान नहीं होना चाहिए।

आचार्य, संघ का नेतृत्व करता है। वह देखता रहता है कि कौन क्या कर रहा है और किस विधि से कर रहा है। कौन साधक किस रास्ते से जा रहा है। सब ठीक-ठीक चल रहे हैं या कोई पथ से विचलित भी हो रहा है ? जब साधक अपने रास्ते पर चलता है, तब उसे आचार्य से अनुग्रह मिलता है; किन्तु यदि कोई साधक अपनी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साधना के मार्ग से भ्रष्ट होता है, तो आचार्य उसको दंडित करते हैं और उन पर अनुशासन कड़ा करते हैं। आचार्य का यह कठोर निग्रह, अनुग्रह से किसी भी अंश में कम मूल्यवान नहीं है। अनुग्रह के समान निग्रह भी धर्म ही है, अधर्म नहीं।

आचार-संहिता के अनुसार साधु का यह कर्तव्य बतलाया गया है कि कदाचित् साधु मर्यादा से बाहर चला जाय या गलती कर बैठे तो उसे अपने को तत्काल सम्हाल लेना चाहिए और स्वयं ही आचार्य को अपने दोष या कार्य की सूचना दे देनी चाहिए। चाहे मनुष्य कितना ही सावधान क्यों न रहे, किन्तु जब तक वह प्राथमिक साधना में लगा हुआ है, तब तक उससे किसी-न-किसी छोटी-मोटी भूल का हो जाना स्वाभाविक है।

जागृति

★

भगवान् महावीर ने कहा है कि 'प्रत्येक क्षण जागृत रहो।' जागृति ही जीवन है। जो सोता है, सो खोता है; जो जागता है, सो पाता है। साधु जागृत दशा में तो क्या, निद्रावस्था में भी जागृत रहे। जब अकेला हो तब भी जागृत रहे, जब सब के बीच में हो तब भी जागता रहे। नगर में हो या वन में हो, वह सर्वत्र जागृत अवस्था में यानी सावधान होकर रहे, पापों से अपनी आत्मा को बचाता रहे, कालुष्य से अपने जीवन को दूर रखे, यही उसकी ऊंची साधना है।

परन्तु हम फिर से उसी मौलिक प्रश्न पर विचार करते हैं कि जागृत से जागृत साधु भी यदि कभी प्रमादवश सो जाय, नींद गहरी आ जाय और इतनी गहरी आ जाय कि वह मामूली आवाज से उठ न सके, तो आचार्य का वहां क्या कर्तव्य है? बच्चा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जब गंदा हो कर आता है, तो माता उसे स्नान कराती है, उसके वस्त्र साफ करती है। परन्तु ऐसा करते समय बच्चा चिल्लाता है, रोता है, हल्ला मचाता है; क्योंकि ठंडे-ठंडे पानी से उसे तकलीफ होती है। परंतु जो कुछ भी किया जा रहा है, उसके संबंध में माता के हृदय से पूछिये कि उसके मानस में वात्सल्य की भावना है या बस बच्चे को कष्ट देने की भावना है? निश्चय ही उसके हृदय में वात्सल्य, प्रेम और अनुराग की भावना तरंगित होती रहती है। इसी प्रकार आचार्य का स्थान भी माता-पिता के समान है। जब वह अपने शिष्यों को दंडित करता है या उन्हें कड़े शब्दों में उपदेश देता है या उनको दोषों से मुक्त होने के लिए कठिन तपस्या में झोंकता है, तब उसके अन्तर हृदय में उस शिष्य के विकास की और उसके कल्याण की कोमल प्रेरणा काम करती रहती है। गुरु चाहता है कि मेरा शिष्य सर्वथा निर्दोष होकर अपनी आत्मा को मोह-माया के बंधनों से मुक्त करे। वह कभी भी साधना के मार्ग से विचलित न हो। वह अपने जीवन-संघर्ष में कभी भी असफल न रहे। इस ऊंची भावना से ही आचार्य अपने शिष्यों का निग्रह करते हैं। कठोरता में भी करुणा का स्रोत बहता रहता है।

इस पृष्ठभूमि में सोचने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुग्रह की तरह ही निग्रह भी अहिंसा का ही एक रूप है। यदि केवल अनुग्रह और करुणा ही अहिंसा का रूप होता, तो मानव मन की जो अबोधावस्था है, वह कभी भी दूर नहीं होती। चोर को चोरी छोड़ने के लिए कहा जाय तो उसके मन में दुख होता है, शराबी को शराब छोड़ने के लिए कहा जाय तो उसका हृदय भी परेशान हो उठता है। तब क्या गुरु का यह कर्तव्य है कि वह चोर को और अधिक चोरी करने के लिए प्रोत्साहित करें? शराबी को और अधिक शराब पीने के लिए सहारा दें?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आक्रमण

●

एक प्रश्न और चिंतन के लिए यहां उपस्थित कर देता हूं। एक ऐसा व्यक्ति, जो पूर्णतः अहिंसा की साधना करना चाहता है, लेकिन वह अहिंसा का साधक होने के साथ-साथ राज्याधिकारी भी है और उसके सामने किसी बाहरी आक्रमण का प्रश्न खड़ा हो जाता है। उसके देश पर कोई अत्याचारी, विदेशी, आक्रमण कर बैठते हैं। ऐसी परिस्थिति में वह अहिंसक राजा क्या उपाय करे? आक्रमण-कारी तेजी के साथ चढ़कर आ रहा है। आक्रामक के रूप में वह देश को लूटता है और प्रजा को पीड़ित करता है। संस्कृति और सभ्यता को नष्ट करता है। मां-बहनों की इज्जत लेता है और सारे जीवन को तहस-नहस करता है। तब अहिंसक राजा, जिसके कन्धों पर प्रजा की रक्षा का उत्तरदायित्व है, क्या करे? उसका उस समय क्या कर्तव्य होना चाहिए? वह राष्ट्र की सुरक्षा के लिए उस आक्रमण का मुकाबला करे या नहीं? एक तरफ उसे आक्रमण करने वाली फौज के साथ भीषण युद्ध करना पड़ता है और दूसरी तरफ स्वदेश की लाखों निरीह जनता को आक्रामक के चरणों में आत्म-समर्पण करना पड़ता है, अन्याय के सामने सिर झुकाना पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में क्या न लड़ना अहिंसा है? क्या वह कायरता नहीं है? बुजदिली और नपुंसकता का प्रमाण नहीं है? जिस प्रकार स्वयं अन्याय करना पाप है, उसी प्रकार अन्याय को बरदाश्त करना, उससे भी बड़ा पाप है। जो अन्याय बरदाश्त कर सकता है, वह स्वयं भी किसी दिन अन्यायी नहीं बन बैठेगा, इसकी क्या गारंटी? उस अहिंसक राजा को स्वयं किसी पर आक्रमण नहीं करना चाहिए। किसी दूसरे विदेशी द्वारा आक्रमण करने पर भी उस के प्रति व्यक्तिगत मानापमान को लेकर अपने मन में द्वेष नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लाना चाहिए। कुछ भी हो, उस विदेशी को मुझे मार ही डालना है या उसके देश पर भी मुझे कब्ज़ा कर लेना है, ऐसी भावना नहीं होनी चाहिए। किन्तु उसके आक्रमण का मुकाबला तो करना ही पड़ेगा। यदि प्रतिरोध करने वाले के हृदय में अपना साम्राज्य बढ़ाने की भावना हो, तो वह भावना हिंसामूलक है। लेकिन केवल अपने देश की आज़ादी को सुरक्षित रखने का विचार है, और उस आजादी के लिए यदि उसे लड़ना भी पड़े, तो लड़ाई करना उसका राष्ट्रीय कर्तव्य है। यदि राष्ट्र की सुरक्षा के लिए युद्ध के बजाय अन्य शांति-पूर्ण उपायों से कोई मार्ग निकाला जा सके, तो वह सर्वोत्तम है। पर यदि वक्त पड़ने पर अहिंसा का नाम लेकर मैदान से भागने वाला तो कायर ही है।

हिंसा के प्रकार

हिंसा चार प्रकार की होती है। १. संकल्पी, २. आरंभी, ३. उद्योगी और ४. विरोधी। जानबूझकर मारने का इरादा करके किसी निरपराध व्यक्ति या राष्ट्र पर आक्रमण करना या किसी को मारना, संकल्पी हिंसा है। खान-पान, रहन-सहन, घर-गृहस्थी इत्यादि काम-धंधों में जो हिंसा हो जाती है, वह आरंभी हिंसा है। खेती-बाड़ी, व्यापार-उद्योग करते हुए जो हिंसा होती है, वह उद्योगी हिंसा है और जो शत्रु का आक्रमण होने पर देश को विनाश से बचाने के लिए तथा अन्याय का प्रतिकार करने के लिए, आज़ादी की सुरक्षा और राष्ट्र की शांति के लिए जो युद्ध किया जाता है वह विरोधी हिंसा है। इन चार प्रकार की हिंसाओं में से यदि पहले प्रकार की हिंसा का परित्याग सारा समाज कर सके, तो सारी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समस्याओं का हल बहुत सरलता से हो सकता है। जैन धर्म ने अपने अनुयायी श्रावकों के लिए इसी संकल्पी हिंसा को छोड़ने का आदेश दिया है। मारने की भावना से किसी निरपराधी की हिंसा करना, साम्राज्य की लिप्सा से किसी पर आक्रमण करना, आर्थिक लोभ से किसी को लूटना, धनी बनने की आकांक्षा से किसी का शोषण करना आदि बातें संकल्पी हिंसा के अन्तर्गत आती हैं।

जीवन-निर्वाह के लिए हर व्यक्ति को पचन पाचनादि का काम-धंधा तो करना ही पड़ता है । इस प्रकार के काम-धंधे में आरंभी हिंसा का हो जाना सहज-सम्भव है। किन्तु उदरपूर्ति के लिए की जानेवाली इस हिंसा को सहसा छोड़ सकना संभव नहीं। इसी प्रकार व्यापार, उद्योग और खेती इत्यादि में होने वाली उद्योग सम्बन्धी हिंसा को भी टाल सकना असंभव है। विरोधी हिंसा को भी नहीं छोड़ा जा सकता, क्योंकि मनुष्य को निर्दय शत्रुओं से अपनी, अपने देश की और अपने समाज की समुचित रक्षा का प्रबन्ध करना ही पड़ता है।

रस्किन ने, जो पश्चिम का एक बड़ा दार्शनिक था, एक पुस्तक लिखी है जिसका हिन्दी अनुवाद महात्मा गांधी ने 'सर्वोदय' के नाम से किया है। उसमें रस्किन कहता है कि सिपाही का आदर्श यह है कि वह स्वयं किसी को मारने न जाये, किन्तु देश की आज़ादी को सुरक्षित रखने के लिए यदि उसे किसी को मारना पड़े और स्वयं को भी मर जाना पड़े तो वह आवश्यक है। क्योंकि कतल करना, मारना या मरना वहां मुख्य नहीं है, बल्कि उस सिपाही का प्रधान लक्ष्य तो अपने देश की आज़ादी को सुरक्षित रखना है। कुछ लोग कहते हैं कि अहिंसा पंगु होती है। अहिंसा कायरों का धर्म है। अहिंसा ने देश को गुलाम बनाया । परन्तु अहिंसा के व्यापक दृष्टिकोण को यदि हम समझने का प्रयत्न करें, तो ये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सारे आरोप और आक्षेप झूठे साबित होंगे। स्वयं अहिंसा का पालन करनेवालों ने भी अहिंसा को समझने में भयंकर भूल की है।

वीरों का धर्म

☆

अहिंसा का अर्थ यह नहीं है कि हम सिर पर दोनों हाथ रखकर घर का दरवाजा बन्द करें और अन्दर छुपकर बैठ जाएं। अहिंसा में जीवन की कोई निष्क्रिय एवं अभावात्मक स्थिति नहीं है। अहिंसा में जोश होता है, संघर्ष होता है, प्रतिकार होता है। जो अहिंसा निष्प्राण है, निस्तेज है, जिसमें अन्याय के साथ मुकाबला करने की शक्ति नहीं है, जो संघर्ष नहीं कर सकती, जो अपनी आजादी को सुरक्षित नहीं रख सकती, जो मनुष्य को या राष्ट्र को गुलाम बना देती है, वह अहिंसा है ही नहीं। अगर कुछ लोग अहिंसा के नाम पर ऐसा करते हैं तो वह निकम्मी और निरर्थक अहिंसा है। महात्मा गांधी ने आज़ादी प्राप्त करने के लिए हिंसा के रास्ते को गलत समझा। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वे घर में जाकर बैठ गये। हम सब यह अच्छी तरह से जानते हैं और इतिहास इस बात का साक्षी है कि महात्मा गांधी ने अहिंसा के रास्ते से अंग्रेजों को हिन्दुस्तान की आज़ादी देने के लिए मज़बूर कर दिया। उन्होंने अंग्रेजों के साथ मुकाबला किया। गुलामी का प्रतिकार करने के उपाय किये। उपवास किया, असहयोग किया, सत्याग्रह किया, सविनय अवज्ञा की और अहिंसा के रास्ते से देश को आज़ादी दिलायी। यह एक उदाहरण उन सब आक्षेपों का सचोट उत्तर है जो यह कहते हैं कि अहिंसा पंगु है या निष्क्रिय है। महाश्रमण महावीर ने भी और तथागत बुद्ध ने भी अहिंसा के रास्ते से समाज में क्रांति लाने का प्रयत्न किया था। चारों ओर जातिवाद का नशा छाया हुआ था, सामाजिक रूढ़ियों और अन्ध-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विश्वासों ने मानव को अन्धा कर दिया था, यज्ञ और बलि की प्रथाओं ने मानव-जाति को तहस-नहस कर दिया था, गुलामी और दास-प्रथा की बेड़ियां समाज के पैरों को बांधे हुए थीं, प्रगति अवरुद्ध हो गई थी। उस समय भगवान् महावीर और गौतम बुद्ध ने क्रांति की अलख जगायी। समाज से इन कु-प्रथाओं को समाप्त करने का आन्दोलन छेड़ा और वे अपने मिशन में बहुत दूर तक सफल भी हुए। किन्तु उन्होंनें हिंसा का सहारा नहीं लिया। दोनों ही महापुरुष क्षत्रिय थे। वे राज्याधिकारी भी थे। उनके पास ऐसी शक्ति थी कि वे चाहते तो सेना संगठित कर सकते थे। अन्ध-विश्वास और रूढ़िवाद का प्रचार करने वालों को बन्दी बना सकते थे, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। उन्होंने कानून का, राज्य का या सेना का सहारा नहीं लिया। वे जन-मत को जागृत करने के लिए गांव-गांव घूमे। जनता को समझाया। जनता के दिल को बदला, विचारों में परिवर्तन किया, घर-घर में अपना उपदेश पहुंचाया, अपने शिष्यों को भेजा और आखिर उन्होंने सामाजिक क्रांति की मशाल को जलाकर प्रगति का नया माप-दण्ड कायम किया। मैं उन लोगों से पूछना चाहता हूं, जो अहिंसा को कायरता का प्रतीक बताते हैं। क्या महावीर, बुद्ध कायर थे? नहीं, ये लोग कायर नहीं थे, न इनकी अहिंसा कायर थी; बल्कि कायर वे हैं जो अहिंसा का बहाना बनाकर अपने प्राणों की रक्षा करना चाहते हैं। कौन कहता है कि किसी को मारना बहादुरी का काम है? किसी को मारने में कौन सी बहादुरी है? बहादुरी तो है स्वयं मर-जाने में। अपने प्राणों का मोह बड़ा भयंकर होता है। कोई भी आदमी मरना नहीं चाहता। बूढ़ा, बीमार और जर्जर आदमी भी आखिरी दम तक यह प्रयत्न करता है कि उसे ऐसी कोई दवा मिल जाय, जिससे कि वह कुछ दिन और जी सके। कैसा विचित्र मोह होता है अपने प्राणों का। ऐसी स्थिति में यदि अहिंसा का प्रचारक अपने आपको बलिदान कर देता है या शहीद हो जाता है, तो क्या उसे कायरता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहा जाय ? क्या उसे अहिंसा का पंगुपन कहा जाय ? नहीं, यह तो वीरता की अहिंसा है। अहिंसा वीरों का धर्म है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

ऊपर में अहिंसात्मक प्रतिकार के उदाहरण हैं। यह जीवन का सर्वोच्च आदर्श है। परन्तु अन्याय के प्रतिकार का जब कोई अहिंसात्मक प्रतिकार सम्भव न हो, या इसकी तैयारी न हो तो अहिंसा के आदर्श की छाया में कायरता को प्रश्रय नहीं दिया जा सकता। सामाजिक जीवन में अन्याय का प्रतिकार आवश्यक है। इसके लिए भारतीय इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण आपके सामने रख रहा हूं। रावण सीता का अपहरण करके ले गया। राम को यह मालूम हुआ कि सीता रावण के शिकंजे में फंसी हुई है। वहां एक सीता नहीं, न जाने कितने प्राणी मूक भाव से उस उच्छृंखल शासक की गुलामी की चक्की में पीसे जा रहे थे। एक तरफ सीता की रक्षा का प्रश्न था और दूसरी तरफ रावण के साथ युद्ध करके हजारों मनुष्यों के संहार का प्रश्न था। उस समय सीता को बचाने के लिए और मनुष्य जाति को भयंकर गुलामी से मुक्त करने के लिए राम ने युद्ध करने का निर्णय किया। वे मर्यादा पुरुषोत्तम राम, जो भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल प्रतीक हैं, युद्ध करने के लिए निकले। यदि उन्हें युद्ध में केवल हिंसा की बू आती और अहिंसा के भविष्य का कोई प्रश्न न होता तो क्या वे युद्ध के लिए तैयार होते ? लेकिन अन्याय को बरदाश्त करना पाप है, अपने में यह स्वयं भी एक महा हिंसा है, इस आदर्श ने उन्हें युद्ध के लिए प्रेरित किया और वे मैदान में उतरे। हालांकि युद्ध करना राम का उद्देश्य नहीं था। वे युद्ध को टालना चाहते थे। हर सम्भव उपाय से उन्होंने युद्ध को टालने का प्रयत्न भी किया। लेकिन जब दूसरे सभी रास्ते बन्द हो गये और केवल युद्ध का मार्ग ही शेष रहा, तब उन्होंने अहिंसा का बहाना लेकर अपने मुंह को छुपाया नहीं। उन्होंने रावण से बार-बार कहलवाया कि न तो मुझे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पृथ्वी चाहिए, न सुन्दर ललनाएं, न सोने की लंका, न तुम्हारा अपार धन, मुझे केवल सीता चाहिए। मैं सीता की मुक्ति भी केवल विषय-विलास के लिए नहीं, किन्तु कर्तव्यपूर्ति के लिए, अन्याय के प्रतिकार के लिए चाहता हूं। मुझे तुमसे कोई वैर नहीं है, घृणा नहीं है, मैं तुमसे नहीं, तुम्हारे अत्याचार से घृणा करता हूं। तुम एक राजा हो, शासक हो, अन्याय के प्रतिकार के लिए ही सिंहासन पर बैठे हो। यदि तुम स्वयं ही अन्याय, अत्याचार करोगे, तो फिर प्रजा को न्याय कहां मिलेगा? किन्तु राम की यह बात जब स्वीकार नहीं हुई, तभी वे अपराधी को दण्ड देने के लिए हाथ में धनुष लेकर आगे बढ़े। युद्ध में हिंसा अवश्य हुई। किन्तु उक्त हिंसा का सूत्रपात रावण ने किया है।

कृष्ण का आदर्श

★

जैन धर्म के अहिंसा विषयक तत्त्वज्ञान का स्पष्ट निर्देश है कि जो अन्यायी हो, जो अत्याचारी हो, जो समाज का द्रोही हो उसे यथोचित दंड मिलना ही चाहिए। परन्तु उस अवसर पर भी अहिंसा की साधना करने वाले को अपराधी के साथ वैमनस्य नहीं रखना चाहिए। अपराधी के प्रति हमारे मन में किसी प्रकार की घृणा नहीं होनी चाहिए। ईर्ष्या नहीं होनी चाहिए। घृणा दोषी से नहीं, दोषों से होनी चाहिए। यही उदाहरण कृष्ण के जीवन में भी प्राप्त होता है। महाभारत का युद्ध कृष्ण की प्रेरणा से ही हुआ। यदि कृष्ण ने अर्जुन को अथवा पांडवों को जोश न दिया होता तो शायद युद्ध न होता। किन्तु उनके सामने भी अपराधी को दण्ड देने का ही सवाल था। उन्होंने भी इस युद्ध को टालने के लिए अनेकों बार प्रयत्न किया। स्वयं दूत बनकर भी दुर्योधन की सभा में पहुंचे। और तो क्या, केवल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पांच गांव तक पर समझौता कर लेना चाहा। परन्तु वैसा कुछ भी सम्भव नहीं हो सका। आगे चलकर ठीक युद्ध के मोर्चे पर अर्जुन ने जव हथियार डाल दिये और कौरवों के साथ लड़ने से इन्कार कर दिया, तव श्रीकृष्ण ने हिंसा और अहिंसा सम्बन्धी द्वन्द्व में से युद्ध का ऐसा आदर्श शास्त्र उपस्थित किया, जिसे सुनकर अर्जुन को ज्ञान मिला। उसने अहिंसा की वास्तविकता को समझा और आखिर वह युद्ध के लिए तैयार हुआ।

सारी भारतीय संस्कृति इस तरह के उदाहरणों से भरी पड़ी है। इसलिए उसके वहुत विस्तार में जाने की जरूरत नहीं हैं। सीधा-सा प्रश्न है कि अहिंसा की साधना परिस्थिति, समाज, व्यक्ति और उसके विवेक का संतुलित स्वरूप है। यदि इनमें कहीं पारस्परिक संतुलन नहीं रहेगा, तो अहिंसा की साधना बिगड़ जाएगी।

हम अनुग्रह और निग्रह के प्रश्न को लेकर चले थे और यह प्रश्न उपस्थित हुआ था कि क्या केवल अनुग्रह ही अहिंसा है या निग्रह में भी अहिंसा है ? उपरोक्त विवेचन के बाद यह विषय काफी स्पष्ट हो जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अहिंसा का मानदंड

जीव पांच प्रकार के होते हैं। एक इन्द्रिय वाले, दो इन्द्रिय वाले, तीन इन्द्रिय वाले, चार इन्द्रिय वाले और पांच इन्द्रिय वाले। उक्त जीवों में कोई स्थूल शरीरवाला हाथी है, ऊंट है या महाकाय मत्स्य है तथा कोई सूक्ष्म शरीर वाला जन्तु अथवा कीड़ा है। कुछ प्राणी ऐसे भी हैं, जो हम से भी सूक्ष्म हैं वे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के शरीर में निवास करते हैं। इन सभी जीवों के शरीर की बनावट में अंतर होता है। परन्तु सभी जीवों में आत्मा समानरूप से होती है। हालांकि इन्द्रियों के विकास के अनुसार उनके शरीर में और हिंसा के प्रकार में बहुत अन्तर होता है। प्रश्न उठता है कि किस प्राणी की हिंसा में ज्यादा पाप है और किस प्राणी की हिंसा में कम पाप है। हिंसा करते समय हिंसक की मनस्थिति भी एक रूप की नहीं होती है। किसी के अन्तःकरण में हिंसा की भावना बहुत उग्र होती है और किसी के हृदय में वही भावना कुछ मध्यम होती है या मन्द होती है।

इस प्रकार हिंस्य और हिंसक की अनेक भूमिकाएं हैं। इन दोनों के योग से हिंसा की निष्पत्ति होती है। यदि जीवन में होने वाली समस्त हिंसाएं एक ही श्रेणी की होती हों, तब तो साग, सब्जी का खाना और मांस का खाना भी एक ही श्रेणी में होना चाहिए था। परन्तु ऐसा नहीं है। यदि ऐसा नहीं है और हिंसा में यदि किसी प्रकार का तारतम्य है, याने कोई हिंसा बड़ी है और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कोई हिंसा छोटी है तो इस भेद का आधार क्या है, यह जिज्ञासा प्रायः हृदय में उठती है। क्या मरने वाले जीवों की संख्या के आधार पर हिंसा का मानदण्ड कायम किया जाय, अथवा जीवों के शरीर की स्थूलता एवं सूक्ष्मता पर हिंसा की न्यूनाधिकता अवलम्बित है? अथवा हिंसक की मनोवृत्ति में जो तीव्रता और मंदता होती है, उस पर हिंसा की न्यूनाधिकता का मानदण्ड आधारित है?

तारतम्य

कुछ लोगों का कहना है कि पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीव भी तो जीव ही हैं। उनमें भी प्राण हैं और उनको भी जीने का हक है। वे बेचारे भी जीना चाहते हैं, किन्तु मूक होने के कारण अपनी इच्छा को अभिव्यक्त नहीं कर सकते। शायद इसी-लिए आपकी आंखों में उनका मूल्य कम है। दो इन्द्रिय वाले जीवों से लेकर पाँच इन्द्रियवाले जीवों तक जितने भी बड़े-बड़े प्राणी हैं, क्या केवल उन्हीं की जिंदगी का मूल्य है? यह प्रश्न कई बार अहिंसा के साधकों के सामने आता है और उन्हें उलझन में डाल देता है। परन्तु गहराई से विचार करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि हिंसा इन सब बाहरी बातों पर आधारित नहीं हो सकती। जहां जीव ज्यादा मरेंगे, वहां ज्यादा हिंसा होगी और जहां जीव कम मरेंगे वहां कम हिंसा होगी, ऐसी मान्यता ठीक नहीं लगती। हम जीवों की गिनती में उलझ जाते हैं और मानवीय भावना के उतार-चढ़ाव को भूल जाते हैं। एक आदमी भूखा-प्यासा दरवाजे पर पड़ा है। वह छटपटा रहा है। यदि उस समय उसको पानी पिला दिया जाय तो उसके प्राण बच सकते हैं। किन्तु यदि वहां कोई हिंसा की तरतमता का प्रश्न खड़ा करे और कहे कि एक तरफ पानी पिलाने से केवल एक जीव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बचता है और दूसरी तरफ उस पानी के असंख्य जीव मर जाते हैं। इस प्रकार बचा केवल एक जीव और मारे गये असंख्य जीव। ऐसी स्थिति में उस छटपटाते हुए इन्सान को पानी पिलाना धर्म और पुण्य कैसे माना जायेगा ? यह तो वही बात हुई कि एक समर्थ की रक्षा के लिए असंख्य असमर्थ को मार दिया गया।

बात बड़ी चुभने वाली लगती है और एक बार इस तर्क को सुनने से दिमाग झंकृत-सा हो जाता है। किन्तु यदि मानवीय भावनाओं के उतार-चढ़ाव का मूल्यांकन करें और सृष्टि की रचना का जो आधार है उस पर विचार करें तो निश्चय ही इस तर्क में भावुकता या अज्ञानता ही प्रतीत होगी। वास्तव में अहिंसा का सम्बन्ध जीवों की गिनती करने से नहीं है। संख्या के बाहरी गज से हिंसा और अहिंसा को नापा नहीं जा सकता। एक ओर भावना है, दूसरी ओर संख्या है। एक ओर अर्न्तदृष्टि है तो दूसरी ओर बाह्य दृष्टि है।

प्राचीन काल में हस्तितापस नाम के घोर तपस्वी होते थे, जो बड़ी कठिन तपस्या करते थे। जब आहार लेने का समय आता तब वे सोचते थे कि यदि हम फल-फूल खायेंगे तो अनेक जीव मारे जायेंगे। इसलिए क्यों न किसी एक ही स्थूलकाय जीव को मार लिया जाय, जिसे हम भी खायें और दूसरों को भी खिलायें। साथ ही हिंसा की मात्रा भी कम हो। यह सोचकर वे जंगल में जाते थे और एक हाथी मार लाते थे। फिर कई दिन तक उस मृत हस्त-शरीर को सुविधा-पूर्वक खाते रहते थे। उनका मन इस बात से बड़ा संतुष्ट होता था कि उन्होंने असंख्य जीवों के प्राणों की रक्षा का महापुण्य कमाया है और केवल एक जीव को मारने का पाप किया है।

परन्तु भगवान महावीर ने कहा है कि उनका ऐसा समझना न केवल असम्पूर्ण है, बल्कि गलत और अनुचित भी है। भगवान महा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वीर ने अपने विचार को स्पष्ट करते हुए कहा कि वनस्पति जगत के एक इन्द्रिय वाले जीव की हिंसा में भावों की तीव्रता प्रायः कम होती है। उस समय मन में उग्र घृणा और वीभत्स द्वेष का भाव पैदा नहीं होता। परन्तु हाथी जैसे विशालकाय पांच इन्द्रिय वाले जीव को जब मारा जाता है तो अन्तःकरण में एक प्रकार की हलचल-सी मच जाती है। उसे मारने के लिए घेरा डालना पड़ता है, उसके साथ संघर्ष करना पड़ता है। उसके लिए नाना प्रकार के दांव-पेंच करने पड़ते हैं। इस सारी प्रक्रिया में हृदय की भावनाएं दूषित और मलिन हो जाती हैं। एक इन्द्रिय वाले जीवों की हिंसा के समय इस तरह की तीव्रता नहीं होती। ज्यों-ज्यों भावों की तीव्रता बढ़ती चली जाती है, त्यों-त्यों हिंसा की तीव्रता भी बढ़ती जाती है। इसलिए एक इन्द्रिय वाले जीवों की अपेक्षा दो, तीन, चार और पांच इन्द्रिय वाले जीवों की हिंसा में उग्रता, तीव्रता, घृणा, द्वेष आदि बढ़ने के कारण हिंसा भी बढ़ती जाती है।

मान लीजिए कि एक साधु किसी गृहस्थ के घर भोजन के गया। गृहस्थ के घर में एक तरफ उबला हुआ साग रखा है और दूसरी तरफ उबली हुई मछली रखी है। दोनों ही चीजें पकी हुई हो... से निष्प्राण हैं। इस समय दोनों में चैतन्य और और जड़ की दृष्टि से कोई भेद नहीं है; परन्तु साधु इन दोनों में से कौनसी चीज को ग्रहण करेगा? जो सब जीवों को बराबर मानकर चलता है, उसके लिए उबली हुई ककड़ी और उबली हुई मछली में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। उसके मतानुसार तो जैसी पीड़ा एक इन्द्रिय वाले जीव को हुई थी, वैसी ही पीड़ा पांच इन्द्रिय वाले जीव को भी हुई थी। परन्तु फिर भी वह साधु मछली को छोड़कर ककड़ी को स्वीकार करता है। आखिर क्यों? क्योंकि उसके पीछे एक तरह की नृशंसता और निर्ममता का अभाव काम करता रहता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मान लीजिए एक आदमी कहता है कि मैं रोज मांस भी खाता हूं और साग-सब्जी भी खाता हूं। इन दोनों में से किसी एक चीज को छोड़ना चाहता हूं। चाहे तो मांस को छोड़ दूं, या चाहे तो साग-सब्जी को छोड़ दूं। ऐसी स्थिति में उस व्यक्ति को कौनसा मार्ग बतलाना चाहिए? जो इस सिद्धान्त को लेकर चलता है कि अधिक जीव मरने से अधिक हिंसा होती है तो क्या वह उस व्यक्ति को ऐसी सलाह देगा कि तुम साग-सब्जी खाना छोड़ दो और माँस का सेवन करो; क्योंकि साग-सब्जी में असंख्य और अनंत जीव होते हैं, जबकि मांस तैयार करने के लिए किसी एक ही जीव की हिंसा करनी पड़ती है? यहां पर क्या जीवों की गिनती का हिसाब लगाना ठीक होगा? क्या उक्त गणना पर हिंसा की न्यूनाधिकता के लिए कोई मानदंड या कसौटी बनायी जा सकती है?

हिंसा में जो तारतम्य होता है, वह मनुष्य की भावना पर आधारित है, यह हमने पहले भी कई बार बतलाया है, जहां क्रोध, लोभ, अहंकार इत्यादि कलुषित भावनाओं की तीव्रता कम होती है, वहां हिंसा भी कम होती है। जब इस कसौटी पर हम अपने सिद्धान्तों को कसेंगे, तब यह सहज समझ में आ जायेगा कि किसी एक इन्द्रिय वाले जीव को मारने में जितनी हिंसा होती है, उससे कहीं अधिक पांच इन्द्रिय वाले जीव को मारने में या कष्ट देने में हिंसा होती है। यदि ऐसा न माना जाय तो हिंसा और अहिंसा की सारी व्याख्या बहुत अपूर्ण और एकांगी बन जायगी।

हमारा प्रत्येक धर्म पड़ौसी से चालू होता है। महात्मा गांधी ने पड़ौसी धर्म और स्वदेश धर्म का अहिंसा के साथ बहुत बड़ा सम्बन्ध बताया है। यदि हम अपने पड़ौसी के दुःख से द्रवित नहीं हो सकते, तो हमारी अहिंसा का कोई अर्थ नहीं रहता। मनुष्य मनुष्य के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साथ कैसा वर्ताव रखे, यह उसके सामने सबसे पहला और सबसे बड़ा महत्त्वपूर्ण सवाल है। हमारी अहिंसा का परीक्षण सबसे पहले मनुष्य पर ही होना चाहिए। हम अपनी अहिंसा का प्रयोग मनुष्य पर न करके जीव-जंतुओं अथवा वनस्पति अथवा पानी पर करेंगे तो वह निहायत उपहासास्पद अहिंसा साबित होगी। हम कीड़ों-मकोड़ों की रक्षा के लिए तत्परता दिखाते हैं, हम चींटियों के बिलों पर चीनी डालते हैं, हम कबूतरों के लिए दानें फेंकते हैं और जो अपने निकट हैं, जो अपने दुकान में मुनीम-गुमाश्ते हैं, अपने आफिस में जो क्लर्क-चपरासी हैं, अपने कारखानों में जो श्रमिक-मजदूर हैं, उनके साथ प्रेम का, सहानुभूति का तथा करुणा का व्यवहार नहीं करते तो वह अहिंसा नितांत एकांगी और अपंग ही रहने वाली है। मैंने देखा है कि अनेक सेठ अपने मजदूरों के साथ ऐसा घृणित और निर्मम व्यवहार करते हैं, जिसे देखकर दांतों तले अंगुली दबानी पड़ती है। वे रोज अहिंसा का व्याख्यान सुनते हैं, अहिंसा की किताबें पढ़ते हैं, अहिंसा पर व्याख्यान भी देते हैं और अहिंसा की स्थापना के लिए अथवा अहिंसा के प्रचार के लिए हजारों-लाखों रुपये खर्च भी करते हैं, परन्तु उनकी वह अहिंसा केवल किताबों में बंद पड़ी रहती है। उनकी वह अहिंसा केवल वाणी का विलासमात्र बन जाती है। उनकी वह अहिंसा केवल बौद्धिक कार्यक्रम का रूप धारण कर लेती है। उनके व्यवहार में, उनके घर में, उनके आफिस में, उनके कारखाने में, उस दिव्य अहिंसा का रूप प्रगट ही नहीं हो पाता। वे मजदूरों से छः घंटे के स्थान पर आठ घंटे, दस घंटे, बारह घंटे, काम लेने के लिए तत्पर रहते हैं। किन्तु उनका उचित पारिश्रमिक देते समय बड़े कठोर, अधीर और कृपण बन जाते हैं। उन मजदूरों की मेहनत से खुद तो लाखों रुपये कमाने की योजनाएं बनाते हैं, किन्तु लाखों रुपयों का मुनाफा होने के बाद भी उन मजदूरों के लिए वे किसी तरह की सुविधा का इन्तजाम नहीं करते। यह सब देखकर हृदय को बड़ा दुःख

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होता है। मन में एक तरह की ग्लानि पैदा होती है और इस बात पर बड़ा अचरज होता है कि उनकी वे अहिंसा की बातें कहां गयीं? प्यास से छटपटाते हुए मनुष्य को पानी पिलाते समय वे सोचते हैं कि इसमें असंख्य जीवों की हिंसा हो जायेगी, परन्तु अपने भाई के समान जो उनके कर्मचारी हैं, उनके साथ व्यवहार करते समय उनके हृदय में कोई दया का भाव पैदा नहीं होता। जब मैं यह सब देखता हूं तो मुझे यह मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि निश्चय ही अहिंसा का मानदंड जीवों की संख्या नहीं हो सकता, बल्कि मनुष्य की भावना ही हो सकती है।

एक व्यक्ति वनस्पति पर चाकू चलाता है और दूसरा किसी मनुष्य या पशु की गरदन पर छुरी चलाता है। अब अन्तःकरण को ही साक्षी बनाकर पूछना चाहिए कि क्या दोनों समान पाप के भागी हैं? क्या दोनों की हिंसा समान कोटि की है? जो लोग एक इन्द्रिय और पांच इन्द्रिय वाले जीवों की हिंसा को समान ही मानते हैं, क्या वे इन समस्त प्रश्नों को गंभीरता से सोचने का कष्ट करेंगे?

संकल्प

अहिंसा और हिंसा का प्रधान केन्द्र व्यक्ति का वह संकल्प है, जिस संकल्प के आधार पर सारे समाज का, सारी सृष्टि का और सारे विश्व का संचालन होता है। यदि उन संकल्पों में पवित्रता है, स्निग्धता है, सरलता है तो कोई कारण नहीं कि व्यक्ति हिंसा का भागीदार बने। जीवगणना के द्वारा हिंसा एवं अहिंसा को आंकना जैन धर्म नहीं सिखाता। भगवान् महावीर ने इस विचार-पद्धति का विरोध किया है। हमारे जैनधर्म में ही कुछ इस तरह के अतिकल्पना-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शाल चिन्तक हुए हैं, जिन्होंने इस प्रकार के विचार समाज को दिये जिससे कि लोगों में जीवों को गिनने की वृत्ति बढ़ी और भावना का स्थान कम हुआ। परन्तु निश्चय ही यह घातक विचार-पद्धति है। इससे मानव-समाज की व्यवस्था टूट जायेगी। अहिंसा का व्यावहारिक रूप खंडित हो जाएगा, सामाजिकता की रीढ़ टेढ़ी हो जायेगी और मानव बहुत संकुचित विचारों में फंस जायेगा।

हमने अहिंसा के मान-दंड को समझने के लिए यह एक ऐसा मुद्दा रखा है, जो बड़े लम्बे समय से विचारकों के सामने विचार का विषय रहा है। विचार निरंतर आगे बढ़ता रहता है। वह किसी युग के साथ या किसी ग्रंथ के साथ या किसी व्यक्ति के साथ चिपकता नहीं। विचारों की खोज सत्य की खोज है। इसलिए वह खोज निरंतर चलती ही रहनी चाहिए। जो लोग ऐसा समझते हैं कि विचारों की खोज अनावश्यक है या जो लोग ऐसा समझते हैं कि विचारों का विकास अपनी अंतिम सीमा तक पहुंच गया है, वे लोग भ्रम में हैं; क्योंकि विचारों का चरमोत्कर्ष इसी में है कि वे निरंतर नये-नये तथ्यों को ग्रहण करते रहें। यदि यह विकास, यह प्रगति अवरुद्ध हो जायेगी तो मानव-जाति के इतिहास में भयंकर भूल होगी। मानव-समाज का विकास एक ऐतिहासिक देन है। मानव निरंतर प्रगति करता आया है। उसने विचारों की नयी-नयी दीक्षाएं लीं और अपने युग को उन विचारों के साथ जोड़कर सर्वांग-सुन्दर बनाया। विचारों की नयी खोज ने समाज को समृद्ध किया, विचारों की नयी खोज ने नये-नये ऋषि-महर्षि, संत और मनस्वी पैदा किये, विचारों की खोज ने समाज की कमियों को अथवा असंगतियों को दूर किया। जो विचारों की खोज इतनी महत्त्वपूर्ण है, उसको हम रोक कैसे सकते हैं। इसी पृष्ठभूमि में अहिंसा का विचार भी हमारे सामने आता है। हमें अहिंसा की दिशाओं में नित्य-निरंतर खोज करनी है। जिस तरह प्राकृतिक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जगत् में अथवा भौतिक जगत् में विज्ञान ने नये-नये अनुसंधान किये, नये-नये प्रयोग किये और नये-नये आविष्कार किये, उसी तरह अहिंसा के क्षेत्र में हमें नये-नये प्रयोग, अनुसंधान और आविष्कार करके अहिंसा को सर्वांगपूर्ण बनाना चाहिए। समाज में हिंसा का दायरा किस तरह से धीरे-धीरे संकुचित होता चला जाय और अहिंसा का दायरा धीरे-धीरे व्यापक होता चला जाय, इसका रास्ता हमें ढूंढ़ना चाहिए। अगर हम ऐसा नहीं करेंगे तो आने वाली पीढ़ी के साथ वह बहुत बड़ा अन्याय होगा। जिन्होंने समाज से निवृत्ति लेकर अहिंसा की साधना में अपना जीवन लगाया है, उनका यह उत्तरदायित्व है कि वे पूर्णरूपेण अहिंसा के अनुसंधान में अपने-आप को समर्पित कर दें। जिस तरह एक वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में किसी नयी चीज का अन्वेषण करने के लिए अपने सारे जीवन को खपा देता है, उसी तरह हमें भी एक वैज्ञानिक की तरह अहिंसा की प्रयोगशाला में अहिंसक जीवन के प्रयोगों और आविष्कारों के लिए अपने जीवन को खपा देना है। अगर हम इतनी तैयारी रखते हों तो वास्तव में हमें अहिंसा की साधना का अधिकार है, अन्यथा अहिंसा के नाम पर हम आडंबर, दिखावा और अन्धविश्वास का सहारा भले ही लें, वास्तविक अहिंसा के द्वार तक नहीं पहुंचेंगे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिंसा की रीढ़

दो दृष्टियां हैं। एक अन्तर्दृष्टि, दूसरी बाह्य दृष्टि। दोनों दृष्टियां जीवन में समान मूल्य रखती हैं, लेकिन अन्तर्दृष्टि का महत्त्व सब से अधिक है, जब कि आजकल उस अन्तर्दृष्टि को छोड़कर अधिकांश साधक बहिर्दृष्टि में ही उलझे हुए प्रतीत होते हैं। बाहरी क्रिया-कांड, आचार-विचार, रहन-सहन इत्यादि जीवन में जो कुछ भी बाहर के काम हैं, उन्हीं को प्रधानता दे दी गयी है और मानसिक पवित्रता, आत्मा की उच्च सांस्कृतिक भूमिका एवं विचारों का ऊंचा धरातल पीछे छिप गया है।

धर्म के बहिरंग और अन्तरंग दो प्रकार होते हैं, हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि बाहरी धर्म में या बहिरंग दृष्टि में बराबर परिवर्तन होता रहता है। प्रत्येक तीर्थंकर अपने-अपने युग में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार जीवन के बाह्य नियमों में परिवर्तन करते रहते हैं। पहले तीर्थंकर भगवान् ऋषभ देव के युग में साधुओं का रहन-सहन जिस रूप में था उस रूप में अन्य तीर्थंकरों के समय में नहीं था। बल्कि हर तीर्थंकर के युग में ये नियम और आचार बदलते रहे। भगवान् महावीर ने भी देश, काल तथा साधकों की बदली हुई स्थिति को सामने रखकर अपने पहले के तीर्थंकरों द्वारा प्रचलित नियमों में अनेक परिवर्तन किये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिवर्तन

परिवर्तन, वस्तु का स्वभाव है। जहां परिवर्तन नहीं होता, वहां जड़ता छा जाती है। जो व्यक्ति जड़ बनकर, अंधा बनकर, किसी नियम को पकड़ लेता है वह प्रगतिशील नहीं बन सकता। प्रगति के लिए परिवर्तन अत्यन्त आवश्यक होता है। हम व्यावहारिक जीवन में भी निरंतर परिवर्तन करते रहते हैं। एक ही भोजन रोज नहीं करते। एक ही कपड़ा रोज नहीं पहनते। फिर किसी एक ही नियम को सदियों तक और युगों तक मानते रहने का कोई तुक नहीं। रहन-सहन आचार-विचार, मर्यादा, परंपरा आदि में हमें बराबर परिवर्तन करते रहना चाहिए।

आज के युग में विज्ञान ने समाज के सामने नये-नये प्रश्न पैदा कर दिये हैं। उन प्रश्नों का उत्तर यदि हम पुराने ग्रंथों में ढूंढ़ने की कोशिश करेंगे तो उनका उत्तर कैसे मिलेगा? क्योंकि जिस युग में उन ग्रंथों का निर्माण हुआ, उस युग में वे प्रश्न ही नहीं थे। फ़िर उनका उत्तर उन ग्रंथों में कैसे लिखा जाता?

आज मानव की स्थिति, उसकी समस्याएं, उसके चारों ओर का वातावरण, दूसरे युग से सर्वथा भिन्न है। अतः आज के युग में जो समस्याएं हैं, उनका हल करने के लिए हमें आज की दृष्टि से ही सोचना पड़ेगा। अगर हम सोचने के लिए विचारों का दरवाजा बंद कर देंगे, तो ताजी हवा नहीं मिल सकेगी। ताजी हवा प्राप्त करने के लिए दरवाजे और खिड़कियों को खोलकर रखना जरूरी होता है। ठीक उसी तरह नये-नये विचारों को ग्रहण करने के लिए भी दिमाग की खिड़कियों को खुला रखना पड़ेगा। जो जड़ होकर, अंध-विश्वासी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बनकर पुराने नियमों में अपनी आत्मा को जकड़े रखते हैं, वे अपने जीवन में, अपनी साधना में और अपनी तपस्या में सफल नहीं हो सकते ।

प्रति वर्ष पतझड़ की ऋतु में जिस तरह सारे पत्ते झड़ जाते हैं और फिर वसंत आने पर नयी कोंपलें लग जाती हैं, उसी तरह प्रत्येक युग में पुराने रूढ़िवादी विश्वासों को छोड़ देना चाहिए और नये विचारों की कोंपलें उगानी चाहिएं । किन्तु इतना बराबर ध्यान रहे कि हमें पेड़ को जड़-मूल से नहीं उखाड़ देना चाहिए । यदि पतझड़ के समय पत्तों के साथ जड़ को भी उखाड़ दिया जाय तो फिर नयी कोंपलें किस पर लगेंगी ? अतः जो शाश्वत, सांस्कृतिक धारा है, आध्यात्मिक साधना है, उसे तो हमें कायम रखना है, परन्तु उस पर साम्प्रदायिक परंपराओं के अनुसार जो आवरण चढ़ाये जाते हैं, उनको बदलते जाना आवश्यक है । क्योंकि प्रत्येक सत्य का एक स्थायी रूप भी होता है जिसे बदलने की किसी भी युग में आवश्यकता नहीं पड़ती । यदि वह स्थायी रहने वाला रूप न हो, तो बदलने वाला रूप किस के सहारे टिकेगा ? इस प्रकार व्यावहारिक रूप में धर्म बदलता रहता है और मौलिक रूप में वह स्थिर रहता है ।

मौलिक धर्म

अहिंसा मौलिक धर्म है । वह बहिरंग नहीं होती, अंतरंग दृष्टि है । किसी भी युग में दूसरों को पीड़ा देना, दूसरों को सताना, दूसरों को मारना, दूसरों का शोषण करना, दूसरों के अधिकारों को छीनना धर्म नहीं हो सकता ।

जैसे शरीर बदलते रहने पर भी आत्मा नहीं बदलती, वह किसी भी परिस्थिति में अपने चैतन्य स्वरूप को नहीं छोड़ती, चाहे वह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संसार में रहे या मोक्ष में जाय, चाहे वह मनुष्य-योनि में रहे या पशु-योनि में जाय, आत्मा तो आत्मा ही रहेगी, उसी प्रकार अहिंसा धर्म की आत्मा है। उसके मौलिक रूप में किसी भी समय और किसी भी परिस्थितिवश किसी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं है। अतः धर्म को समझने के लिए अहिंसा को भलीभाँति समझना आवश्यक है।

खासतौर से जैनधर्म अहिंसा को प्रधान स्थान देता है। अक्सर जैनधर्म का प्रसंग आते ही अहिंसा याद आ जाती है। इसी प्रकार अहिंसा का प्रसंग छिड़ते ही जैनधर्म की याद आ जाती है।

अहिंसा का तत्त्व बहुत सूक्ष्म है। इसलिए उसके विवेचन में हमें अपना दृष्टिकोण बहुत ही संतुलित रखना होगा। अन्यथा हमारे मन में भ्रान्तियाँ घर कर जाएंगी। अगर हम उसके स्थूल रूप को ही देखेंगे, सूक्ष्म रूप में नहीं जायेंगे तो उसकी तह में पहुंचना संभव नहीं होगा।

हमें यह जानना चाहिए कि हिंसा कितने प्रकार की है। जैन धर्म ने हिंसा के एक नहीं, अनेक नहीं, असंख्य नहीं, बल्कि अनन्त भेद बताये हैं। कोई आदमी समुद्र के किनारे खड़ा है और वह ज्वार-भाटे के समय समुद्र की लहरों को गिनना चाहता है तो क्या उन लहरों को गिनना संभव है ? उसी प्रकार यह सारा संसार एक अथाह समुद्र की भांति फैला हुआ है। चिंतक संसार के एक किनारे खड़ा होकर देखे कि उसमें हिंसा कहां है और कैसे हो रही है, तो वह उसे पूर्णतः पकड़ नहीं पाएगा। इस समुद्र में प्रतिपल विभिन्न विचारों का ज्वार-भाटा उठता रहता है और उसकी लहरें हिलोरें मारा करती हैं। संसार तो बहुत दूर की बात है, हम अपने मन को ही लें। इस मन में भी दिन-रात, प्रतिपल भावना की लहरें उठती रहती हैं। उस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समय ऐसा मालूम होता है कि हमारा मन मानो एक असीम समुद्र बन गया है।

बंधन का रूप

इस आत्मा के साथ हिंसा का बंधन जब होता है, तब आत्मा में कंपन उत्पन्न होता है, हलचल होती है और उस हलचल के साथ क्रोध, अहंकार, दंभ एवं लोभ के संस्कार जागृत होते हैं। जब आत्मा में ये संस्कार नहीं रहते, हलचल नहीं होती, तब हिंसा का बंधन भी नहीं होता। जब मन, वाणी और शरीर में कंपन नहीं होता तब आत्मा पूरी तरह शान्त और स्थिर हो जाती है। उस स्थिर अवस्था में समुद्र का ज्वारभाटा जैसे बन्द रहता है, उसी तरह हमारे मन की भावनाएं भी बन्द रहती हैं। किन्तु इस मन के कंपन को गिनना हर किसी के लिए संभव नहीं है और जब मन का कंपन गिना नहीं जा सकता तब हिंसा के भेदों की भी गणना कैसे की जा सकती है। फिर भी स्थूल रूप में हम यदि गिनने के लिए बैठें तो सब से पहले हिंसा के तीन रूप हमारे सामने आयेंगे। संरम्भ, समारंभ और आरंभ। हिंसा के विचारों का आरंभ होना संरम्भ है, हिंसा के लिए सामग्री जुटाना समारंभ है और फिर प्रारंभ से लेकर अन्त तक हिंसा की क्रिया करना आरम्भ है। इस प्रकार हिंसा के तीन भेद हुए। अब देखना चाहिए कि हिंसा के जो संकल्प या प्रयत्न किये जाते हैं, उनके क्या कारण हैं। अंतर हृदय की दूषित भावनाएं ही हिंसा को प्रेरित करती हैं। वे दूषित संकल्प ही हिंसा के लिए प्राथमिक सामग्री हो जाते हैं और अन्त में उन्हीं संकल्पों से बल पाकर हिंसा की क्रिया आरंभ की जाती है। मन की अथवा आत्मा की वे दूषित भावनाएं चार भागों में बांटी जा सकती हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिंसा के मूल में ये चार दूषित संकल्प ही हैं जो हमें पागल बनाकर हिंसा के लिए उन्मुख करते हैं। इन दूषित संकल्पों का रंग जितना अधिक गहरा होगा, उतनी ही हिंसा भी अधिक गहरी होगी। प्रायः इन दूषित संकल्पों से प्रेरित होकर ही हम अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाते हैं। मन, वचन और शरीर तीनों पर से नियंत्रण तभी टूटता है, जब दूषित संकल्प बलवान बनते हैं।

संरम्भ, समारंभ और आरम्भ इन तीनों को क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों के साथ गुणन करने से हिंसा के बारह भेद बन जाते हैं और इन बारह भेदों का मन, वचन और शरीर इन तीनों साधनों के साथ गुणन कर देने से हिंसा के छत्तीस भेद हो जाते हैं। फिर स्वयं करना, दूसरों से करवाना और अनुमोदन करना इन तीनों योगों द्वारा हिंसा होती है, इसलिए इनके साथी पूर्वोक्त छत्तीस भेदों को गुणित कर देने से हिंसा के एक सौ आठ भेद बन जाते हैं। इन एक सौ आठ भेदों, याने तरीकों से, हिंसा होती है। अतः एक सौ आठ तरीकों को रोकने के लिए हमें निरंतर संघर्ष करना पड़त है। जब हम इस संघर्ष में विजयी हो जाते हैं, तब हिंसा के सारे द्वार रुक जाते हैं और अहिंसा का स्वस्थ वातावरण हमारे चारों ओर फैल जाता है। हिंसा की दूषित गंध में से जब हम अहिंसा के सुगंधित वातावरण में पहुंचते हैं, तब एक अनिर्वचनीय शांति की अनुभूति होती है।

जैनधर्म हिंसा और अहिंसा के विवेचन में पहुंचता है। वह उस गहराई को समझने के लिए साधक को अपनी बुद्धि तथ अपने विवेक को सतत् जागरूक रखने के लिए आदेश देता है। इस सारे विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हिंसा का अर्थ केवल मारना ही नहीं है, बल्कि मन में आया हुआ प्रत्येक दूषित संकल्प हिंसा है, किसी भी प्राणी की स्वतन्त्रता में बाधा पैदा करना भी हिंसा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, यदि हम किसी भी प्राणी को स्वतन्त्रता पूर्वक जीवन की प्रगति करने से रोकते हैं, तो हिंसा के भागीदार बन जाते हैं।

प्रश्न उठता है कि आखिर मनुष्य अपनी जिंदगी में हरकत तो करता ही है। वह चलता है, खाता है। इस तरह कहीं न कहीं और किसी न किसी रूप में दूसरे जीवों के गन्तव्य मार्ग में रुकावट पैदा हो ही जाती है। ऐसी स्थिति में स्वभावतः यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि आखिर हम किस प्रकार अहिंसक रह सकते हैं ? केवल गृहस्थ ही नहीं, बल्कि संसार से पूर्णतः निवृत्त साधु भी इन क्रियाओं के कारण दूसरे जीवों की स्वतन्त्रता में बाधक बन सकते हैं। कल्पना कीजिये कि साधु के जल से भरे पात्र में मक्खी गिर जाती है। उसे निकालना तो पड़ेगा ही, निकालते समय उसे कष्ट भी होगा। ऐसी स्थिति में क्या किया जाए ?

मान लीजिये, एक प्राणी है और धूप में पड़ा है। अपंग होने के कारण वह इधर-उधर नहीं जा सकता। आप उदारतावश उसे धूप से उठाकर छाया में रख देते हैं। इस तरह उस प्राणी को मरने से बचा लेते हैं, किन्तु शास्त्र में तो लिखा है कि किसी जीव का एक जगह से दूसरी जगह रख देना भी हिंसा है। लेकिन यह सोचने का सही तरीका नहीं है। यदि इसी दृष्टि से विचार किया जायेगा तो फिर कहीं पैर रखने को भी जगह नहीं मिलेगी। फिर तो मनुष्य का जीना ही हिंसामय हो जायेगा। आखिर श्वास की हवा से भी तो सूक्ष्म जन्तुओं की स्वतन्त्र गति में बाधा पड़ती है।

क्रिया और भावना

भगवान् महावीर छः मास तक हिमालय की तरह अचल खड़े रहे। किन्तु उसके बाद वे भी भोजन के लिए इधर-उधर गए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महीने, दो महीने, अधिक-से-अधिक छः महीने भी तपस्या में विताये जा सकते हैं। किन्तु जीवन को कायम रखने के लिए गमन, आगमन किए विना तो कुछ भी नहीं हो सकता। जब यह स्थिति हमारे समक्ष है, तो हम विचार करना चाहते हैं कि हिंसा और अहिंसा के वीच लक्ष्मण-रेखा कौन-सी है? वास्तव में किसी भी हरकत के साथ हिंसा का सम्वन्ध नहीं है। हम पहले ही कई वार यह स्पष्ट कर चुके हैं कि किसी भी हरकत को हिंसा न कहकर उसके पीछे जो दूषित संकल्प हैं, जो विकृत भावना है या जो कषाय भाव है, वह हिंसा है और वही पाप भी है। इसलिए संरक्षण की दृष्टि से विवेक पूर्वक यदि किसी प्राणी को इधर-उधर किया जाय, उसके गमनागमनादि में अवरोध किया जाय तो वह हिंसा नहीं है। यदि दृष्टि शुद्ध है तो कहीं भी पाप नहीं है। यही वात खाने-पीने के सम्वन्ध में भी है। मूलतः खाने-पीने में पाप नहीं, किन्तु खाने-पीने के पीछे वृत्ति क्या है, यह देखना होगा। यदि खाना केवल खाने के लिए या स्वाद के लिए ही है तो वह खाना हिंसामय है। यदि खाने के पीछे विवेक है, यतना है, जीने के लिए खाना है और खाकर समाज की सेवा करने का संकल्प है तो ऐसा खाना धर्म है। धर्म तपस्या है या खाना? यदि छः महीने तक तपस्या की और फिर एक दिन भोजन किया तो वह भोजन धर्म है या पाप? यदि भोजन नहीं करेंगे तो तपस्या कैसे करेंगे? और यदि तपस्या कर के भोजन करना पाप है, तो फिर साधना-पथ पर आने के पहले ही दिन, आजीवन भोजन करने का परित्याग कर देना चाहिए। अतः सभी दृष्टियों से सोचने पर ऐसा लगता है कि आत्म-विकास की मंजिल तक जाने के लिए तपस्या भी आवश्यक है और आहार भी आवश्यक है। जव तपस्या की उपयोगिता हो, तब तपस्या धर्म है और जब आहार की उपयोगिता हो, तव आहार करना धर्म है। इसलिए भगवान् महावीर ने जब तपस्या की, तब भी उन्हें धर्म हुआ और जब आहार ग्रहण किया, तब भी उन्हें धर्म हुआ। यदि तपस्या के बाद

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिए जाने वाले आहार को हम पापमय कहेंगे तो वह बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं माना जायेगा। इसलिए जैन धर्म बाह्य क्रियाओं के करने या न करने में कोई पुण्य-पाप नहीं मानता। यह पुण्य और पाप हमारे जीवन से अलग कोई काल्पनिक वस्तु नहीं है। पुण्य और पाप तो भावना के दो पहलू हैं। देखने के दो दृष्टिकोण हैं। अगर हम एक चीज को सही ढंग से देखते हैं, उसका सही इस्तेमाल करते हैं, उसके साथ न्याय करते हैं, तो वह पुण्य है और उसी चीज का अगर हम गलत इस्तेमाल करते हैं, दुरुपयोग करते हैं, उसके साथ अविवेक पूर्वक पेश आते हैं, तो वही पाप हो जाता है। इसलिए पुण्य और पाप हमारे दृष्टिकोण की विषमता के अलावा और दूसरी चीज नहीं है। वह तो हमारे आँखों के अन्दर ही रहने वाली चीज है। एक ही दृष्टि मां पर भी पड़ती है, बहन पर भी पड़ती है और पत्नी पर भी पड़ती है, लेकिन एक समय वह दृष्टि वात्सल्य चाहती है, दूसरे समय में वह दृष्टि प्रेम चाहती है और तीसरे समय वही दृष्टि भोग चाहती है। एक ही दृष्टि तीन स्थानों पर तीन रूप ले लेती है। अतः इमें यह कहना होगा कि नारी पाप की चीज नहीं। या नारी नर्क का द्वार नहीं। नारी एक पवित्र चीज है। हम उसे किस दृष्टि से देखते हैं, इसी पर पाप और पुण्य, नर्क या स्वर्ग का द्वार अथवा अच्छाई या बुराई, निर्भर करती है।

प्रमादवश यह सारी चीज उत्पन्न होती है। अगर हम हिंसा के दृष्टिकोण को और अहिंसा के दृष्टिकोण को एक ही शब्द में व्यक्त करना चाहें, तो कह सकते हैं कि प्रमाद हिंसा है और अप्रमाद अहिंसा है; अथवा विवेक अहिंसा है और अविवेक हिंसा है। इस बुनियादी तत्त्व को जब हम समझ लेंगे तब हमें अहिंसा के बारे में पर्याप्त दृष्टि मिल जाएगी और जब तक इन दोनों के रूप में बुनियादी तत्त्व को नहीं समझेंगे, तब तक हिंसा और अहिंसा के विश्लेषण में हम चक्कर लगाते रहेंगे, किसी निश्चित परिणाम तक नहीं पहुंच पाएंगे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रवृत्ति और निवृत्ति

अहिंसा शब्द के साथ जो निषेध जुड़ा हुआ है, उसे देखकर साधारण लोग और कभी-कभी कुछ विशिष्ट विचारक भी भ्रम में पड़ जाते हैं। वे समझ बैठते हैं कि अहिंसा शब्द निषेधात्मक है और इसीलिए अहिंसा निवृत्ति-परक है। इस भ्रम ने अनेक विरोध पैदा किये और आज भी भ्रम के कारण अनेक लोग चक्कर में पड़ जाते हैं। अतः अहिंसा की विवेचना करते समय यह समझना नितांत आवश्यक है कि अहिंसा केवल निवृत्ति की ही सूचक है या उसमें कहीं प्रवृत्ति भी है? अगर इस बुनियादी प्रश्न को हम नहीं समझेंगे तो अहिंसा की वास्तविकता से बहुत दूर भटक जाएंगे।

अहिंसा क्या है? वस्तुतः क्या वह संसार से अलग-थलग अकेली खड़ी है? क्या उसका संसार के जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है? क्या सामाजिक जीवन की मर्यादाओं से उसका कोई सामंजस्य नहीं है? यदि वस्तुतः अहिंसा समाज के लिए, इस संसार के लिए और इस जीवन के लिए उपयोगी साबित नहीं होती है तो उस अहिंसा का पालन इस समाज में और इस जीवन में करने का कोई तुक नहीं रहता। अहिंसा का साधक यदि इस जीवन की या इस समाज की प्रवृत्ति में कोई भाग ही नहीं ले सकता, तो फिर उसे इस समाज में रहने का अधिकार भी है या नहीं? यह बुनियादी सवाल खड़ा हो जाएगा। अहिंसा की साधना करने वालों को इन प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर देना होगा और यदि इन प्रश्नों का उत्तर देने में अहिंसा की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साधना करने वाले थोड़ी-बहुत भी आनाकानी करते हैं, तो आज के विज्ञानवाद के युग में रहने वाला मानव उनकी अहिंसा को स्वीकार नहीं करेगा।

जो अहिंसा कर्म-क्षेत्र से अलग हो जाती है, जो अहिंसा निष्क्रिय होकर हर जगह से भटकना ही चाहती है, जो अहिंसा प्रवृत्ति से डरकर कोने में दुबक जाती है, जो अहिंसा अपने आपको सामाजिक जीवन से अलग मानती है, वह अहिंसा किसी भी रूप में उपयोगी नहीं हो सकती।

कोरी निवृत्ति की बातें और निवृत्ति के सिद्धांत सुनने में मीठे लगते हैं। ऊपर-ऊपर से भले प्रतीत हो सकते हैं किन्तु अगर हम गहराई में जाकर सोचेंगे कि जवतक जीवन का ज्ञान और जीवन की दृष्टि नहीं मिलती, तब तक अहिंसा का कोई उपयोग नहीं है। उस समय हमारी आंखें खुल जाएंगी और हम कोरी निवृत्ति के पीछे पागल होकर दौड़ना बन्द कर देंगे।

हमारे कुछ साथी कहते हैं कि प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों एक साथ नहीं रह सकतीं। दोनों की दिशाएं दो हैं, दोनों के स्वभाव दो हैं। जैसे दिन और रात एक साथ नहीं रह सकते, जैसे गरमी और सर्दी एक जगह नहीं रह सकती, उसी तरह प्रवृत्ति और निवृत्ति भी एक साथ नहीं रह सकतीं। किन्तु यह दृष्टि भ्रामक है और ये उदाहरण भी असंतुलित हैं। अहिंसा के अनेक पहलू हैं, अनेक अंग हैं और अनेक अंश हैं। इसलिए प्रवृत्ति में भी अहिंसा हो सकती है और निवृत्ति में भी अहिंसा हो सकती है। अहिंसा में ये दोनों पहलू सदा एक साथ रहते हैं। एक कार्य में प्रवृत्ति, दूसरे कार्य में निवृत्ति हो सकती है, यह हम क्यों भूल जाते हैं ? यदि किसी निवृत्ति के साथ कोई प्रवृत्ति नहीं करते हैं तो उस निवृत्ति का कोई भी मूल्य नहीं है।

१२८८४१
Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्मरण रखने की बात है कि निवृत्ति का अर्थ निष्क्रियता नहीं है। अगर निवृत्ति का अर्थ निष्क्रियता हो या समाज से विमुख हो जाना हो या जीवन के प्रश्न के प्रति उपेक्षाभाव रखना हो, तो हमें वह निवृत्ति स्वीकार्य नहीं है।

साधु के जीवन में दो प्रकार की मर्यादाओं का उल्लेख है। समिति और गुप्ति। समिति की मर्यादायें प्रवृत्ति-मूलक हैं और गुप्ति की मर्यादाएं निवृत्ति-मूलक हैं। यदि अहिंसा का अर्थ केवल निवृत्ति ही है, तो समितियों का उल्लेख, उनका विवेचन और उनका निरूपण क्यों किया जाता ?

दोनों समान

जीवन के क्षेत्र में चाहे साधु हो या श्रावक—दोनों के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति समान रूप से आवश्यक है। असद् आचरण से निवृत्त होना और सद् आचरण में प्रवृत्त होना, कौन स्वीकार नहीं करेगा ? सेवा करो, प्रेम करो, दया करो, उपकार करो—ये सब करने के काम हैं। यदि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के प्रति सहानुभूति न रखे, दूसरों के कष्टों में काम न आये, दूसरे की सेवा के लिए तत्पर न रहे, तो वह कैसा आदमी है ?

कुछ सम्प्रदायों में या कुछ विचार-परम्पराओं में अहिंसा की कल्पना को अत्यन्त संकुचित क्षेत्र में बाँध दिया गया है। किसी भी तरह की सामाजिक प्रवृत्ति को और सामाजिक सेवा को, सामाजिक सुधार को प्रवृत्ति का नाम देकर उसे पाप माना जाता है और उससे दूर रहने की प्रेरणा दी जाती है। लेकिन हमें संतुलित विचार से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अहिंसा की खोज करनी चाहिए और यह समझना चाहिए कि अहिंसा सामाजिक जीवन की रीढ़ है। यदि सामाजिक जीवन टूट जायेगा, यदि सामाजिकता के टुकड़े हो जाएंगे तो कहां तक यह अहिंसा टिकेगी? कहां यह धर्म टिकेगा ? और कहां ये प्रवृत्ति-निवृत्ति के सिद्धान्त टिकेंगे ? इसलिए इन सबसे ऊपर जो तत्त्व है, वह समाज है, समाज को धुरी मानकर ही हम उसके आस-पास की भूमि तैयार करते हैं और समाज को बलवान् या सुदृढ़ बनाने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की मर्यादाओं का निर्माण करते हैं। यदि उन मर्यादाओं की रक्षा के लिए हम मूल तत्त्व का विनाश कर बैठेंगे, तो वे मर्यादाएं क्या काम आयेंगी ?

विज्ञान और मनोविज्ञान के अनेक अन्वेषकों ने यह साबित कर दिया है कि मनुष्य बिना समाज के, अकेला नहीं रह सकता। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज से बल पाता है, समाज से जीवन पाता है और समाज से दृष्टि पाता है। इसलिए समाज को वापिस कुछ-न-कुछ देना यह उस मानव का कर्तव्य है। अगर कोई भी मानव अपने इस कर्तव्य से मुकरता है या च्युत होता है या दूर भटकता है, तो वह न केवल समाज के साथ बल्कि अपने आपके साथ भी अन्याय करता है।

हृदय हीनता

●

जब इन्सान पर इन्सान हावी हो रहा हो, जब चारों ओर हिंसा, वैमनस्य तथा शोषण का दमन-चक्र चल रहा हो, जब समाज में अज्ञान, दंभ, दरिद्रता और बीमारी का प्रचण्ड प्रकोप फैले हो, तब यदि कोई व्यक्ति ऐसा कहे कि मैं तो अहिंसक हूं, तटस्थ हूं, निवृत्ति-परायण हूं, मुझे इस समाज की हीनअवस्था से क्या सरोकार है ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तो उस कहने वाले की हृदय-हीनता के अलावा और कुछ नहीं है। न तो उसके मन में अहिंसा की भावना है, न उसने अहिंसा के तत्त्व को पहिचाना है और न वह अहिंसा के मार्ग का राही है। वह या तो कायर है या आलसी है या निष्क्रिय है या मूर्ख है। जिसके हृदय में करुणा है, जिसके हृदय में दया है, जिसके हृदय में प्रेम है वह व्यक्ति समाज में अन्दर-ही-अन्दर सुलगने वाली इस भयंकर आग को देख नहीं सकेगा और उसे बुझाने के लिए प्रयत्न करेगा, उद्योग करेगा यानी प्रवृत्ति करेगा। समाज के सब लोग हिंसा, शोषण और अज्ञान के कारण पतित हो रहे हों, नरकगामी बन रहे हों और उस समय कोई अकेला व्यक्ति खड़ा होकर के कहे कि मुझे इस समाज से कुछ भी लेना-देना नहीं है, मैं तो एकान्त अहिंसा की साधना के लिए जा रहा हूं, तो वह ऐसा कहकर अपने दंभ को पोषण देता है और अपने सामाजिक कर्तव्यों की पृष्ठभूमि से नीचे गिरता है।

कल्पना कीजिये कि एक साधु नदी के किनारे चलते-चलते फिसल गया और नदी की तेज धारा में डूबने लगा। उस समय उस साधु का दूसरा साथी--साधु क्या करे? यदि वह पानी में प्रविष्ट होता है तो जल के असंख्य जीवों की हिंसा होती है और अगर वह नदी में प्रविष्ट होकर अपने साथी-साधु को बचाता नहीं है, तो उस साधु से हाथ धो बैठता है। अब नदी के किनारे खड़ा साधु क्या निर्णय करे? उसक क्या कर्तव्य है? जो निवृत्ति-निवृत्ति की रट लगाते हैं, वे तो शायद यही कहेंगे कि उस साधु को बचाने की कोशिश नहीं करनी चाहिए, किन्तु भगवान महावीर ने यह आदेश दिया है कि जब इस प्रकार की विषम परिस्थिति हो तो दुर्घटनाग्रस्त साधु या साध्वी को सहायता पहुंचानी चाहिए। तटस्थ होकर खड़े नहीं रहना चाहिए बल्कि पानी में घुसकर भी दुर्घटनाग्रस्त साधु या साध्वी की प्राण-रक्षा करनी चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदि कोई प्राणी हमारे सामने मर रहा है तो हम, संभव है, अपने शरीर पर काबू कर लें और उस मरने वाले प्राणी को बचाने की कोशिश न करें। किन्तु ऐसे अवसर पर उस प्राणी के प्राणों की रक्षा करने का मानसिक संकल्प तो अत्यन्त स्वाभाविक है। लेकिन फिर भी यदि हम उन संकल्पों की उपेक्षा करते हैं तो हमारे मन की दया कुचली जाती है और इस प्रकार अपनी आत्म-हिंसा का शिकार होना पड़ता है।

जब अन्तःकरण में करुणा जगती है तब मनुष्य भाव-विभोर होकर गद्गद् हो जाता है। उस समय पुराने पाप-कर्म नष्ट होते हैं और नये शुभ कर्मों का बन्धन होता है।

सामाजिक–साधना

यह प्रश्न काफी विवादास्पद है और इस प्रश्न पर अनेक तरह के मत-भेद भी हो सकते हैं अथवा इस दृष्टिकोण के सम्बन्ध में कई तरह के तर्क उठ सकते हैं। परन्तु हम अपनी अंधश्रद्धा से ऊपर उठकर यदि आज की दुनिया को ध्यान में रखकर सोचेंगे और आज की समस्या के समाधान के लिए विचार करेंगे तो हमें रास्ता साफ दिखाई देगा और हम यह स्वीकार कर लेंगे कि मानवता की सेवा के लिए, सामाजिकता को अखंडित रखने के लिए, न्याय और सत्य की रक्षा के लिए, गरीबी, अज्ञान और शोषण को दूर करने के लिए हर-प्रकार की प्रवृत्ति करनी चाहिए और वह प्रवृत्ति अहिंसा है, सामाजिक साधना है, इसीलिए धर्म भी है।

बहुत-से लोग ऐसा समझते हैं कि घर में झाड़ लगाना, वस्त्र धोना, चक्की पीसना, भोजन पकाना इत्यादि कार्य हिंसाजनक होने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के कारण त्याज्य हैं। साधक की भूमिका को ठीक तरह समझे बिना इतने स्पष्ट रूप से एकान्त बात कह डालना उचित नहीं है। यदि समाज की गाड़ी को हम किसी गड्ढे में नहीं गिरा देना चाहते हैं तो हमें बाहर के स्थूल वातावरण पर आधारित हिंसा अहिंसा के इस संकुचित दायरे से बाहर निकलना चाहिए और जो हमारे मन में हिंसा की भ्रांति घुसी हुई है, उसे दूर करने की कोशिश करनी चाहिए। एक व्यक्ति घर में खाना नहीं पकाता अथवा झाड़ू नहीं लगाता लेकिन दिनभर दुकान में बैठकर शोषण करता रहेगा या ग्राहकों के साथ मुनाफाखोरी का व्यवहार करता रहेगा तो क्या यह बात अहिंसा की भावना के साथ कहीं फिट बैठती है? सचाई तो यह है कि अहिंसा प्रवृत्ति और निवृत्ति से उतनी सम्बन्धित नहीं है, जितनी प्रवृत्ति और निवृत्ति के तर्कों से अथवा उसके पीछे की भावनाओं से सम्बन्धित है। जैन-दर्शन का सूक्ष्म चिन्तन इस सम्बन्ध में बिल्कुल स्पष्ट है। वह कहता है कि यदि साधक जागृत है तो वह हिंसा में भी अहिंसा की उपलब्धि कर सकता है। और यदि जागृत नहीं है, प्रमत्त है तो वह अहिंसा के वातावरण में भी हिंसा का वातावरण उपस्थित कर लेता है। मुख्य प्रश्न विवेक का है, क्रिया का नहीं। कोई भी क्रिया हो, जितना विवेक है, उतना धर्म है।

नयी दृष्टि

●

इतिहास साक्षी है कि अहिंसा की बुजदिल व्याख्याओं के कारण हमारे देश को बड़ी-बड़ी हानियाँ उठानी पड़ीं, उसे गुलाम होना पड़ा और उसके साहित्य, दर्शन तथा संस्कृति पर अनेक बड़े-बड़े कुठाराघात हुए। यदि अहिंसा के कारण हमारे मनों में कायरता उत्पन्न होती है, तो ऐसी अहिंसा किस काम की? आज सारा देश नये सिरे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से अपना निर्माण कर रहा है और चारों तरफ राष्ट्रवादी प्रवृत्तियां जोर पकड़ रही हैं। धर्म के, जाति के, सम्प्रदाय के छोटे-छोटे कटघरे टूट रहे हैं और विशाल वातावरण का निर्माण हो रहा है। उस विशालता के संदर्भ में और नव-निर्माण के संदर्भ में हमें अहिंसा के प्रतिपादन का पुराना तौर-तरीका छोड़ना होगा तथा नयी दृष्टि से संपूर्ण विषय पर अनुसंधान करना होगा।

यदि कोई ऐसा मानता है कि जीवन-संघर्ष की अथवा अन्याय से लड़ने की ताकत केवल हिंसा में ही है, तो वह भारी भ्रम में है। हम प्रवृत्ति-प्रधान अहिंसा के द्वारा यह सिद्ध कर के दिखा सकते हैं कि अहिंसा में भी असहयोग हो सकता है, लेकिन वह असहयोग विनयपूर्वक होगा। अहिंसा में भी आग्रह हो सकता है, लेकिन वह आग्रह हठाग्रह नहीं, बल्कि सत्याग्रह का रूप धारण करेगा। अहिंसा के जरिए संघर्ष और मुकाबला भी किया जा सकता है, लेकिन उसके हथियार तोप और बंदूक नहीं बल्कि प्रेम और सद्भाव होंगे। यह सारी प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति से डरना उचित नहीं। हमें प्रवृत्ति करते समय अपनी मर्यादाओं का ध्यान अवश्य रखना चाहिए, लेकिन समाज की सेवा और समाज के निर्माण से बढ़कर अहिंसा के लिए और कोई ऊंचा आदर्श नहीं हो सकता। जीवन और समाज की प्रत्येक प्रवृत्ति में अहिंसक दृष्टिकोण पैदा करना है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्या अहिंसा व्यावहारिक नहीं है ?

अहिंसा के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के प्रश्न और भ्रम प्रचलित हैं। जब तक उन भ्रमों का पूर्णतः निराकरण न हो जाय, तब तक अहिंसा को हम ठीक तरह से समझ नहीं सकेंगे और न उसका लाभ उठा सकेंगे। अहिंसा के बारे में जो सबसे बड़ी बात कही जाती है, वह यह है कि अहिंसा एक अच्छी चीज होते हुए भी साधारण जीवन में अव्यावहारिक है। यानी वह जीवन के रोजमर्रा के व्यवहार में उपयोगी नहीं है।

ऐसा कहकर के अहिंसा की उपयोगिता को नष्ट कर दिया जाता है; क्योंकि चाहे कैसी भी अच्छी चीज हो, उसका कितना ही मूल्य हो; फिर भी यदि वह जीवन में उपयोगी नहीं है, तो उसको अपनाने से क्या फायदा ? किसी भी सिद्धान्त की कसौटी उसकी व्यावहारिकता पर ही निर्भर है। अतः हम इस प्रश्न को अच्छी तरह से समझना चाहते हैं कि क्या सचमुच में अहिंसा व्यावहारिक नहीं है ? अगर हमें किसी भी क्षण यह समझ में आ जाय कि अहिंसा एक अव्यावहारिक सिद्धान्त है, अर्थात् वह एक आकाश-कुसुम जैसा तत्त्व है, तो हम उसे बिना किसी हिचक के क्षण भर में छोड़ देंगे; क्योंकि वह सिद्धान्त हमारे काम का नहीं होगा। परन्तु यदि अहिंसा ही जीवन का स्वभाव साबित हो और ऐसा अनुभव हो कि बिना अहिंसा के काम ही नहीं चल सकता, तब तो अहिंसा के सम्बन्ध में हम और अधिक तीव्रता के साथ विवेचन करेंगे और उसका प्रचार करेंगे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक मोटर ड्राईवर जब लम्बे सफर पर निकलता है तो रास्ते में अनेक प्रकार के गड्ढे, झाड़ियां, रोड़े, बच्चे, बूढ़े इत्यादि मिलते हैं। यदि वह ड्राईवर अपने काम में कुशल हो तो अवश्य ही इन सबसे अपनी कार को बचाते हुए चलेगा। और अगर वह कुशल ड्राईवर नहीं है तो रास्ते में अनेक एक्सिडेंट करते हुए परेशानी का सामना करेगा। ठीक इसी तरह से जीवन भी एक लम्बा सफर है। इस लम्बे सफर में अनेक व्यक्तियों के साथ, अनेक परिस्थितियों के साथ और अनेक बाधाओं के साथ मनुष्य को पेश आना पड़ता है। अगर उस मनुष्य की वृत्ति अहिंसा परायण है, तब तो वह इन प्रतिकूलताओं से बचता हुआ चलेगा। यदि कहीं किसी के साथ उलझ भी गया तो वह उस परिस्थिति को सुलझाकर शांति के साथ आगे बढ़ जायेगा। किन्तु अगर उसकी वृत्ति- हिंसा प्रधान होगी तो वह सबके साथ बिना किसी मतलब के उलझता रहेगा, झगड़े करता रहेगा, परेशान होता रहेगा और अपने को अशांत बना डालेगा।

जीने की कला

जीवन जीने के लिए है। जो व्यक्ति आनन्द और सुख से जी नहीं सकता, उसका जीवन व्यर्थ ही है। अशांति, परेशानी, चिन्ता, दुख आदि से घिरा रहने वाला व्यक्ति जीवित भी मृत के समान ही है। अब हमें सोचना चाहिए कि जीवन सुखपूर्वक कैसे बीत सकता है। क्या किसी के साथ उलझने से, किसी के साथ झगड़ा करने से, किसी को कष्ट पहुंचाने से हमारे जीवन को आनन्द मिलता है? कभी नहीं। किसी दूसरे को कष्ट देने से हमारे ही मन को कष्ट पहुंचता है। किसी दूसरे के साथ उलझने से हमें ही परेशानी का सामना करना पड़ता है और इस तरह हमारा जीवन अशान्त एवं चिन्तातुर बन जाता है। किन्तु अगर हम प्रेम से, सौजन्य से, सद्भाव से समाज

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में जीते हैं, समाज की सेवा करते हैं, समाज में रहने वाले दूसरे मनुष्यों के साथ स्नेहभाव रखते हैं, तो हमारा जीवन आनन्दमय और सुखमय बनता है। उस सौजन्य और सद्भाव से एक ऐसी सुखानुभूति होती है, जो हमें चिरंतन सन्तोष का प्रसाद दे जाती है।

अब समझिये कि एक व्यक्ति ने आपके घर में चोरी की। अब उसको सुधारने के दो रास्ते हैं। एक तो यह कि उसे मारा जाय, पीटा जाय, उसे जेल में डाला जाय तथा उसे तंग किया जाय। दूसरा यह कि अगर वह अभाव से पीड़ित है, तो उसका अभाव दूर कर दिया जाय। अगर वह समाज से असन्तुष्ट है, तो उसका असंतोष सन्तोष में बदल दिया जाय। अगर उसे कोई काम नहीं मिला है और ऐसी परिस्थिति में वह चोरी करने के लिए मजबूर हुआ है, तो उसे काम देकर समाज में इज्जत से जीने लायक बना दिया जाय। इन दोनों रास्तों में कौनसा रास्ता अधिक व्यावहारिक और अधिक सही है, यह सोचना चाहिए। आखिर हमारी मंजिल तो मनुष्य को सुधारने की ही है। उस चोर के हृदय को बदलने की ही है। हम मार-पीट के द्वारा उसका हृदय बदलने की कोशिश करते हैं, तो क्यों नहीं सीधा ही उसका हृदय बदलने की कोशिश की ज़ाय? टेढ़े हाथ से कान पकड़ने की क्या जरूरत?

अंतर्राष्ट्रीय प्रश्न

आज राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों में भी पूरी हिंसा का सहारा लिया जाता है। एक-दूसरे पर आक्रमण होता है। एक-दूसरे के विरुद्ध प्रोपेगन्डा होता है, एक दूसरे के विरुद्ध सामाजिक तैयारियां होती हैं और किसी उलझे हुए प्रश्न पर युद्ध भी छिड़ जाता है। फिर सारे संसार में युद्ध के खिलाफ आवाज उठती है। तब सम्बन्धित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राष्ट्रों को सन्धि या समझौता करने के लिए मजबूर होना पड़ता है। आखिर कोई-न-कोई समझौते का रास्ता निकाला जाता है। ऐसा अनेक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों के साथ हुआ है। कोरिया में, हिन्द-चीन में, लाओस में इत्यादि अनेक स्थानों में युद्ध प्रारम्भ हुए और आखिर में समझौता किया गया। स्वेज नहर के मामले को लेकर ब्रिटेन और मिश्र के बीच झगड़ा हुआ। फिर समझौता किया गया। इस तरह के कितने ही प्रश्न हैं। तब हमें इन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिज्ञों पर हंसी आती है। पहले युद्ध करना, फिर समझौता करना, फिर बात-चीत के द्वारा समस्या का हल करना; यह कहां का रास्ता है ? क्यों न विवादास्पद प्रश्नों को सीधे बातचीत के द्वारा ही हल किया जाय ?

लोग ऐसा समझते हैं कि हिंसा के रास्ते समस्या पर काबू पा लिया जाता है। किन्तु वस्तुस्थिति इसके सर्वथा विपरीत है। हिंसा से समस्या सुलझती नहीं है, दब सकती है। किन्तु यह दबी हुई समस्या फिर दुगने वेग के साथ उभरती है और अत्यधिक हानिकारक साबित होती है। यह निर्विवाद है कि संसार की आम जनता शांति से जीवित रहना चाहती है। वह रोज-रोज की तनातनी को पसन्द नहीं करती। उसे प्रेम चाहिए, मित्रता चाहिए और सद्भावना चाहिए। इसलिए आम जनता की चीज तो अहिंसा ही है। हिंसा तो कुछ चन्द लोगों के दिमाग का फितूर हो सकता है। जिनके पास फौज है, पुलिस है, ताकत है, सत्ता है, राज्य है आदि। लेकिन जो चीज आम जनता की होती है, वही चीज स्थायी और प्रामाणिक होती है। हम रोज के जीवन में देखें। परिवार के साथ, मित्रों के साथ, गांव के साथ, समाज के साथ हमारे जो सम्बन्ध हैं उनमें हिंसा ज्यादा है या अहिंसा ? निश्चय ही अहिंसा ज्यादा है।

जहां कहीं भी थोड़ी बहुत हिंसा फूटती है, वहां लोग सहज ही उसे रोकने के लिए दौड़ पड़ते हैं। यदि अहिंसा अव्यावहारिक होती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और हिंसा उपादेय होती तो ऐसा कभी न होता। परन्तु अत्यन्त स्वाभाविक और पूर्णतः व्यावहारिक तत्त्व अहिंसा तथा प्रेम ही है। अगर हमारे जीवन से यह तत्त्व निकल जाय तो हम अत्यन्त रूखे बन जायेंगे और समाज की सारी एकता छिन्न-विच्छिन्न होकर टूट जायेगी। आज जो कुछ भी समाज में ऐक्य और सद्भाव है, वह अहिंसा के कारण ही है। हिंसा पशुता का लक्षण है। ज्यों-ज्यों मनुष्य पशुत्व से मनुष्यत्व की ओर बढ़ता है त्यों-त्यों उसके जीवन में से हिंसा छूटती जाती है और सांस्कृतिक चेतना का विकास होता जाता है। अहिंसा मानवता के सांस्कृतिक विकास की देन है। चरम सांस्कृतिक विकास का जब प्रकटीकरण होगा, तब मानव समाज में हिंसा के लिए कोई स्थान नहीं रहेगा। सर्वत्र आपसी बातचीत, समझौता और प्रेम से ही समस्या का हल किया जायेगा। तब पुलिस और फौज भी नहीं रहेगी, तब हथियार बनाने के कारखाने भी नहीं रहेंगे, तब किसी भी राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण का भय नहीं रहेगा। आज जो अरबों रुपया प्रतिवर्ष व्यर्थ ही हथियारों के निर्माण पर और फौज की तैयारी में खर्च हो जाता है, वह रुपया तब मानव के बौद्धिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक विकास के कामों पर खर्च होगा।

प्रसन्नता की बात है कि आज के अनेक वैज्ञानिकों ने और विचारकों ने इस बात के महत्त्व को समझ लिया है और इसीलिए यूरोप जैसे देशों में भी अणु-परीक्षणों के ख़िलाफ़ सत्याग्रह होते हैं, संगठन बनते हैं और आंदोलन चलाये जाते हैं। फौज को विघटित करके तथा हथियारों को समुद्र में बहाकर के मानव को निर्भय बना दिया जाय, इस तरह की बातें आज के कुछ बड़े राजनीतिज्ञ भी करने लगे हैं। इसलिए निश्चय ही ऐसी आशा करनी चाहिए कि अहिंसा की व्यावहारिकता चारों ओर से सिद्ध होने वाली है और धीरे-धीरे अहिंसा की प्रतिष्ठा बढ़ने वाली है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार विभिन्न पहलुओं से सोचने पर हम जिस नतीजे पर पहुंचते हैं, वह यही है कि अब संपूर्ण मानव-जाति के लिए सभी प्रकार की समस्याओं के हल के लिए अहिंसा का मार्ग ही सबसे अधिक व्यावहारिक है और यदि इस व्यावहारिक मार्ग को नहीं अपनाया जायेगा, तो संसार बचने वाला नहीं है। क्योंकि आज के विज्ञानवाद ने और आज की टेक्नालाजी ने जिस तरह से शस्त्रास्त्रों का निर्माण किया है और जिस गति से वह आगे बढ़ रही है उसे देखते हुए मानवता का संहार होने के सिवाय और कोई रास्ता दिखाई नहीं पड़ता। परन्तु यदि मानव समय रहते समझ जायेगा, तो अहिंसा की व्यावहारिकता को स्वीकार करके, हिंसा से अपने आपको विमुक्त कर लेगा तो वह विज्ञान तथा प्रविधि का पूरा-पूरा लाभ उठा सकेगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर्ण-व्यवस्था का मूल रूप

हिंसा के दो प्रकार हैं। प्रत्यक्ष हिंसा और परोक्ष हिंसा। प्रत्यक्ष हिंसा मनुष्य की समझ में जल्दी आ जाती है। एक इन्द्रियवाले जीवों से लेकर पांच इन्द्रिय वाले जीवों तक हिंसा कब और कैसे हुई, इसका आसानी से पता चल सकता है। किन्तु परोक्ष हिंसा का रूप वहुत सूक्ष्म, व्यापक और दुरूह है। उस ओर पूरा ध्यान भी नहीं जाता। परोक्ष हिंसा की गहराई को समझना अत्यन्त आवश्यक है। परोक्ष हिंसा को हम सामाजिक हिंसा कह सकते हैं, जिसमें जीवों की हत्या नहीं होती, परन्तु सामाजिकता के वातावरण में व्यवधान पैदा होता है। सामाजिक हिंसा एक नया-सा शब्द प्रतीत होता है। किन्तु हिंसा के विविध रूप हैं और अलग-अलग अगणित प्रकार हैं। हम ज्यों-ज्यों गहराई से चिन्तन करेंगे, त्यों-त्यों हिंसा-अहिंसा के सूक्ष्म एवं व्यापक रूप प्रगट होते जायेंगे।

समाज और सामाजिक जीवन क्या है? समाज कैसे बना है? जमीन के टुकड़ों को समाज नहीं कहते, मकानों, ईंटों या पत्थरों का ढेर भी समाज नहीं कहलाता। गली, कूचे, सड़क आदि का नाम भी समाज नहीं है। समाज एक-एक व्यक्ति का सम्मिलित समुदाय है। उसे मानव-समुदाय कह सकते हैं। उस मानव समुदाय में आपसी व्यवहार कैसा हो, आपसी सम्बन्ध मधुर हों या नहीं, एक जाति का दूसरी जाति के साथ, एक वर्ग का दूसरे वर्ग के साथ, एक गांव का दूसरे गाँव के साथ कहीं घृणा और द्वेष का सम्बन्ध तो नहीं चल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहा है ? इस प्रकार की सामूहिक या समूह-विशेष के प्रति चल रही घृणा सामाजिक-हिंसा कहलायेगी ।

जातिवाद

विश्व के जितने भी मनुष्य हैं, वे सभी मूलतः एक हैं । कोई भी जाति अथवा कोई भी वर्ग मनुष्य जाति की मौलिक एकता को भंग नहीं कर सकता । आज मनुष्य जाति में जो अलग-अलग वर्ग दिखलाई देते हैं, वे बहुत कुछ कार्यों के भेद से या धन्धों के भेद से बने हैं । यदि उन धन्धों के आधार से बने हुए वर्ग आपस में टकराने लगें या संघर्ष करने लगें तो वह अहिंसा की परिधि से बाहर चला जायेगा । समाज बदलता है, युग बदलता है, परिस्थिति बदलती है । इसीलिए आज जातिवाद का सारा आधार भी बदल गया है । आज सहस्र खंडों में विभाजित मानव जाति पुनः एकता के सूत्र में बंधना चाहती है, इसलिए हम यह गौरव के साथ कह सकते हैं कि आज का मानव अहिंसा की ओर प्रगति करना चाहता है ।

वर्ण-व्यवस्था समाज के टुकड़े-टुकड़े करने के लिए नहीं, बल्कि उसमें सुव्यवस्था कायम करने के लिए बनायी गयी थी । ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य और शूद्र इन वर्णों का एक मात्र आधार उद्योग, धन्धा या कर्तव्य था । समाज की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए ही ये वर्ण स्थापित हुए थे । समाज को शिक्षित करने के लिए ब्राह्मण वर्ग स्थापित हुआ । किन्तु आज ब्राह्मण ऐसा समझता है कि मैं बहुत ऊंचा और पवित्र हूं । शेष सभी मानव मुझसे नीचे हैं, अपवित्र हैं । संसार के साथ मेरा जो कुछ भी सम्बन्ध है, वह देने का नहीं, सिर्फ लेने-ही-लेने का है । किन्तु वास्तव में इस मनगढंत सिद्धान्त पर ब्राह्मण वर्ण की स्थापना नहीं हुई थी ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है, उसी प्रकार ताकतवर, प्रतिभावान और शक्तिशाली लोग असमर्थों का शोषण करने लगते हैं। यदि शक्तिमान लोग न्याय और अन्याय को कभी तोलते भी हैं तो उनका तराजू अपनी बुद्धि होती है और बाट अपने स्वार्थ का होता है। अपनी बुद्धि के तराजू में अपने स्वार्थ के बाटों से तोलने वाले न्याय और अन्याय को कब समझ सकते हैं ? शक्तिशाली और प्रभावशाली व्यक्तियों के हाथों से यदि असमर्थों और अविकसित मनुष्यों का शोषण होता रहा, तो वह मानवों का नहीं, बल्कि दानवों का समाज होगा। शक्तिशालियों द्वारा निर्बलों का उत्पीड़न न हो, उन्हें भी जीवित रहने का अधिकार मिले, उनकी भी समुचित रक्षा की जाय, इस प्रयोजन से क्षत्रीय वर्ण की स्थापना हुई। क्षत्रीय वर्ग और उनका मुखिया राजा, महलों में बैठकर ऐश-आराम करने के लिए नहीं था। अपितु इसलिए था कि देश के किसी भी कोने में जब अत्याचार हो और कोई एक वर्ग किसी दूसरे वर्ग द्वारा कुचला जाता हो तो क्षत्रीय अपने प्राणों की आहुति देकर भी रक्षा का उत्तरदायित्व ग्रहण करें।

वैश्य वर्ण की स्थापना दुनिया का शोषण करके अपने ही पेट को मोटा बनाने के लिए या अपनी ही जेब भरने के लिए नहीं हुई थी। प्रजा के जीवन-निर्वाह की सामग्री सर्वत्र सुलभता से उपलब्ध होती रहे, उपभोक्ताओं को प्रत्येक वस्तु समान सुविधा के साथ मिलती रहे, इसके लिए वैश्य वर्ग कायम हुआ। इस कर्तव्य का प्रामाणिकता के साथ पालन करने के बाद अपने और अपने परिवार के लिए यह उचित पारिश्रमिक ले सकता था। परन्तु आज तो वैश्य वर्ग शोषण का माध्यम बना हुआ है। उत्पादक और उपभोक्ता के बीच दीवार बना हुआ है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शूद्र वर्ग का कार्य भी बहुत महत्त्वपूर्ण था। समाज की सेवा करना, उसका कर्तव्य था। शूद्र वर्ग की स्थापना में किसी भी प्रकार की मानसिक संकीर्णता तथा हीन-भावना काम नहीं कर रही थी। यदि वर्ण-व्यवस्था कायम करते समय शूद्र वर्ग को किसी भी अंश में हीन माना गया होता तो फिर कौन इस वर्ण व्यवस्था में सम्मिलित होने को तैयार होता? जैसे अन्य वर्ग समाज की सुविधा के उद्देश्य से कायम किये गए थे, उसी प्रकार यह वर्ण भी समाज की सुविधा के लिए ही बनाया गया था।

कर्तव्य पराङ्मुखता

●

आज ब्राह्मण समाज इस बात को तो बड़े गौरव के साथ दोहराता है कि हम ब्रह्माजी के मुख से पैदा हुए हैं। किन्तु इसके वास्तविक रहस्य को समझने का स्वप्न में भी प्रयत्न नहीं करता। इसी तरह क्षत्रीय, वैश्य और शूद्र भी अपने-अपने दायित्व को नहीं समझ रहे हैं। ब्राह्मणों का कर्तव्य है कि वे ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने के कारण आत्म-विद्या और आत्म-ज्ञान का प्रचार करें, उपदेश करें, अध्ययन करें। उसी तरह क्षत्रियों को चाहिए कि वे अपनी भुजाओं द्वारा असहायों, असमर्थों और दीनों का संरक्षण करें। वैश्य समाज का कर्तव्य है कि वह उदर से उत्पन्न होने के कारण कृषि, वाणिज्य तथा उद्योग के द्वारा मानव समाज की रोटी की समस्या का हल करे। इसी तरह शूद्र वर्ग की भी यह जिम्मेवारी है कि वह समाज सेवा का व्रत ग्रहण करके अपनी सेवा से समाज को सुखी एवं स्वस्थ बनायें।

अन्याय

●

आज शूद्र वर्ग के साथ जो अन्याय हो रहा है, वह देखकर हृदय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तड़पने लगता है। शूद्र वर्ग के लोग तो दिन भर कड़ी मेहनत कर के समाज की कुत्सित-से-कुत्सित सेवा करते हैं और समाज के लोग उन्हें पास बैठाना भी नहीं चाहते। आश्चर्य की बात है कि मोटरों में कुत्ते और बिल्ली को तो जगह मिल जाती है, किन्तु मानव-देह-धारी शूद्र को यह हक हासिल नहीं है। इंसान को इंसान के पास बैठने का भी हक नहीं है। धर्म-स्थान में भी हरिजन को प्रवेश करने का अभी पूरी तरह से, खुले आम अधिकार नहीं मिला है।

एक शूद्र, मान लीजिये कि किसी धर्मस्थान में पहुंचा तो या तो वहां उसे प्रवेश ही नहीं मिलेगा या फिर उसे बाहर ही रुके रहने के लिए कहा जायेगा। किन्तु उसे भी धर्मस्थान में बैठकर आत्मचिन्तन करने का अधिकार है, ऐसा नहीं माना जाता। वह बेचारा नीचे बैठकर धर्मप्रवचन सुनता है और अन्य तथाकथित सवर्णी लोग मन्दिर में बैठते हैं। हालांकि जो हवा उसे छूकर आती है, वह उन सवर्णी लोगों को भी लगती है। तो फिर उपाय ही क्या है? जब हवा ही हमें भ्रष्ट कर रही है, तब फिर सहारा क्या रहेगा?

इस अशोभनीय दृश्य को देखकर हमने प्रयत्न किया कि हरिजनों को भी सर्व साधारण के पास ही बैठने की जगह मिलनी चाहिए। एक हरिजन तो दरवाजे के पास जूतों के किनारे खड़ा रहे और दूसरे लोग अपने को बहुत बड़ा मानकर दरियों पर बैठें, यह ठीक नहीं। आज के इस प्रगतिवादी युग में भी ऐसे संकीर्ण लोग देखे गये हैं कि यदि हरिजन आया और सन्त के पैर छू गया तो फिर वे खड़े खड़े ही वंदना कर लेते हैं और साधु के पैर नहीं छूते। इस मन की संकीर्णता में वह कितनी बुरी तरह से उलझा हुआ है। भगवान महावीर ने इस संकीर्णता को सुलझाने का प्रयत्न किया था, लेकिन वे पूर्णतः सफल नहीं हुए। उनके बाद ढ़ाई हजार वर्ष की लम्बी परंपरा गुजरी और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्यों ने अस्पृश्यता का समय समय पर तीव्र विरोध भी किया। फिर भी वह उलझन आज तक बनी हुई है। दुर्भाग्य से कई ऐसे भी साधु आये कि जिन्होंने जनता की रूढ़िवादी आवाज में अपनी आवाज मिला दी और अस्पृश्यता को प्रोत्साहन दिया। एक दिन जैन संस्कृति को जातिवाद के निरसन के लिए घोर संघर्ष करना पड़ा था और नास्तिकता का उपालंभ सहकर भी उसने जातिवाद का विरोध किया था। दुर्भाग्य से आज वही पवित्र संस्कृति घृणित अस्पृश्यतावाद की दलदल में फंस गयी। यहां तक कि अस्पृश्यता के पक्ष में शास्त्र के प्रमाण भी आने लगे। कहा जाने लगा कि जो नीचा है वह अपने अशुभ कर्मों का फल भोग रहा है।

एक ही जाति

वास्तव में जैन संस्कृति तो एक ही मनुष्य-जाति स्वीकार करती है। मनुष्यों में दो जातियां हैं ही नहीं। मानव को देखते ही हम यही समझते हैं कि वह एक मानव है, वह शूद्र है या ब्राह्मण है या क्षत्रिय है, ऐसा बिना परिचय के तुरन्त मालूम नहीं होता। स्वाभाविक रूप से जितना मालूम होता है उतना ही वास्तविक है। उसके अलावा जो कुछ भी जातिवाद के प्रपंच रचे गए हैं वे अवास्तविक हैं और संकीर्णता के द्योतक हैं।

हमारी मध्यकालीन संस्कृति में कुछ ऐसी जड़ता आ गयी थी कि वह सब जगहों से हटकर एक मात्र भोजन के स्थान में बन्द हो गयी। न जाने यह झूठ किसने फैला दिया कि अमुक का छुआ खा लेने से धर्म चला जाता है। एक ओर तो भारतीय संस्कृति अद्वैत की उपासना करती है। बड़े-बड़े आचार्य, वेदांत-शास्त्रियों के माध्यम से जनता के सामने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं कि ब्रह्म एक है और हमें जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुछ भी दिखाई दे रहा है, वह सब ब्रह्म का ही रूप है। लेकिन दूसरी तरफ हम ब्रह्म के ही रूप का, जब वह रूप शूद्र या नीच जाति का बाना पहन कर आता है, तब हम उससे घृणा करते हैं। वेदांत तो कहता है कि पानी से भरे हजारों घड़े रखे हैं। उनमें कुछ सोने के हैं, कुछ चांदी के हैं, कुछ दूसरी धातुओं के हैं। परन्तु उन सब में भी चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब तो एक समान ही पड़ता है। इसी प्रकार संसार के सभी पदार्थों में ब्रह्म का ही प्रतिबिम्ब झलकता है।

हमारे कुछ प्रगतिशील विचारक-गण जब कभी धर्म-सम्बन्धी बातें सुनते हैं और उमंग के साथ मानव-संस्कृति पर विचार-विनिमय करते हैं, तब ऐसा मालूम पड़ता है कि सच्चा ब्रह्म-ज्ञान उन्हीं को मिल गया है। किन्तु जब खान-पान की बात सामने आती है, तब उनका ब्रह्म-ज्ञान न जाने कौनसी कंदरा में छुप जाता है! इस प्रकार एक वर्ग से दूसरे वर्ग या एक समूह से दूसरे समूह के प्रति घृणा प्रदर्शित की जाती है, तो वह सामाजिक हिंसा होती है।

जहरीले कीटाणु

अपनी गलतियों को, चाहे वह एक हो या एक हजार, सबके सामने हमें स्वीकार कर लेना चाहिए। जातिवाद को दिया जानेवाला प्रोत्साहन अनुचित है। और इसलिए पीढ़ियों से होने वाली अपनी इस गलती को हम स्वीकार कर लें और उसे सुधारने की कोशिश करें यही हमारा कर्तव्य है। क्योंकि जातिवाद ने हमारे समाज को छोटे-छोटे कटघरों में बांधा है। अगर हम इस बिखरे हुए एवं टूटे हुए समाज को फिर से अखंड बनाना चाहते हैं तो हमें उसके लिए कुछ-न-कुछ त्याग करना ही पड़ेगा। जातिवाद का प्रश्न भूत बनकर आज

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सारे समाज को तंग कर रहा है। इसलिए वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त को समझते हुए भी हमें आज तो जातिवाद का निरसन करना ही होगा। क्योंकि जब तक जातिवाद के जहरीले कीटाणु समाज में फैले हुए रहेंगे, तब तक मानवता चिर-सुरक्षित नहीं रह सकती।

एक ओर जब हम सांस्कृतिक सौहार्द का दृष्टिकोण बनाने जा रहे हैं तब दूसरी ओर हमारा यह संकीर्ण मनोभाव ठीक नहीं है। क्या दोनों विचारों में अंश मात्र भी सामंजस्य है? अगर हम सांस्कृतिक सौजन्य के आधार पर तथा त्याग और सहयोग के आधार पर जीवन को सुव्यवस्थित करें तो दोनों प्रकार के विचारों को हम गहराई से समझ सकेंगे और उसमें से जो उपादेय है, वह ग्रहण कर लेंगे। नर्क और स्वर्ग की बातें करने वाले ही बगल में बैठे इन्सान को अपनाने में हिचक कर जाते हैं। उसको तो सामाजिकता के नाते और मानवता के नाते गले लगाना चाहिए। यदि उस मनुष्य को देखकर आपके हृदय में सात्विक स्नेह की जागृति नहीं होती तो ऐसा मानना चाहिए कि अहिंसा और धर्म के प्रति आपका सच्चा अनुराग जागृत नहीं हो रहा है। उदार और व्यापक दृष्टिकोण के लिए हरिकेशबल और मेतार्य मुनि की कथाओं के रूप में जैन संघ का अतीत बहुत गौरवपूर्ण रहा है और जातिवाद का विरोधी रहा है। हमें अहिंसा के व्यापक स्वरूप की ओर अब ध्यान देना चाहिए और मानसिक कालुष्य से ऊपर उठकर जीवन के सम्बन्धों को स्थिर करना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जातिवाद का भूत

हिंसा एक प्रकार से अन्धकार है। यह अन्धकार आज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में फैला हुआ है। मनुष्य अपने सही मार्ग को पहचानने में कठिनाई महसूस कर रहा है और इसीलिए वह परेशान भी है। जैसे रात्रि के समय घर में चोरों के घुस आने पर घर वाले लड़ने के लिए तो तैयार होते हैं चोरों से, लेकिन लाठियां बरसाने लगते हैं अपने ही घर वालों पर। अन्धकार में अपने-पराये का कोई भेद मालूम नहीं देता। अहिंसा इस अन्धकार में प्रकाश की रेखा बनकर आती है। यह अन्धकार हमें भेद के कटघरों में बांध देता है, लेकिन अहिंसा फिर से उन कटघरों को तोड़कर हमें एकता के सूत्र में पिरो देती है। यह मनुष्य-जीवन एक दुर्लभ वस्तु है। अतः इस जीवन को और मनुष्य समाज को खंडित नहीं होने देना चाहिए। यदि हम मनुष्य बनकर भी मनुष्यता के मूल्य को एवं मनुष्य समाज के महत्त्व को समझ नहीं सकेंगे तो यह हमारे लिए अत्यन्त दुर्भाग्य की बात होगी।

शास्त्रकारों ने मनुष्य को बहुत ऊंचा स्थान दिया है। "गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।" यह शास्त्र का वाक्य है। शास्त्रकार कहता है कि ओ मानव, आओ, तुम्हारे कान में मैं एक रहस्य की बात कहता हूं। वह रहस्य ब्रह्म का रहस्य है। वह रहस्य क्या है? यही कि इस दुनिया में मनुष्य से बढ़कर श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जब मानव अपने आप में इतना श्रेष्ठ और ऊंचा है, तब फिर उसमें ऊंच-नीच या छोटे-बड़े का सवाल खड़ा करना और उस आधार पर जातिवाद का निर्माण करना निहायत मूर्खता ही है। हमें समझना चाहिए कि मनुष्य का मनुष्य के प्रति कैसा व्यवहार हो। यदि इन्सान के साथ व्यवहार करने का तरीका नहीं आता है, तो हमारा शरीर भले ही इन्सान का हो, इन्सानियत के गुण हममें नहीं मिल सकेंगे; क्योंकि घृणा, द्वेष, अहंकार, ये सब पशुता की भावनाएं हैं, मनुष्यता की भावना तो आदर और नम्रता में प्रगट होती है।

ऊर्ध्वगति

मानव सदा ऊपर की ओर गति करता है। वह आगे बढ़ना चाहता है। नाना प्रकार के पुरुषार्थ कर के वह अपने जीवन में विकास के मार्ग ढूंढता है। यदि हम ऐसा मान लें कि कोई व्यक्ति जन्म से ही ऊंचा है, या अमुक जाति में जन्म लेने से ही महान है, तो हम इस चिरंतन पुरुषार्थवाद के साथ खेल करते हैं। यदि समाज में पुरुषार्थ नाम का तत्त्व न हो, तो समाज टिक ही नहीं सकता। जातिवाद पुरुषार्थ का विरोधी है। अमुक जाति में जन्म लेने से ही ऊंचा हो गया हूं, फिर मुझे पुरुषार्थ करने की क्या जरूरत है? मैं तो सबके लिए पूज्य हूं, महान् हूं, उपदेशक हूं, ऐसी भावना जिस व्यक्ति के हृदय में उत्पन्न हो जाती है, वह व्यक्ति मानवता के सद्-गुणों का विकास करने के लिए किसी भी तरह का प्रयत्न नहीं कर सकता। वह आलसी बन जाता है। निष्क्रिय बन जाता है। और अपने जीवन की ऊर्ध्वगति को कुण्ठित कर देता है।

एक कवि है, दूसरा लेखक है, तीसरा वक्ता है, चौथा साधक है, पांचवां आत्म-चिन्तक है। ये सब अलग-अलग सद्गुण किसी जाति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से सम्वन्धित नहीं हो सकते। उसके लिए साधना की आवश्यकता होती है। विना साधना के अगर कोई लेखक, कवि, वक्ता या नेता बन सकता हो, तव तो कहना ही क्या! लेकिन यह अस्वाभाविक है। जन्म के साथ कोई नेता, वक्ता या विचारक वनकर नहीं आता। इस प्रकार के अव्यक्त संस्कार तो जन्म से ही प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु विशेष संस्कारों का विकास तो पुरुषार्थ से ही होता है।

ब्राह्मण के यहां जन्म लेने मात्र से पवित्रता प्राप्त हो जाय और जैन कुल में जन्म लेने मात्र से जैनत्व मिल जाय, तो फिर नैतिक पवित्रता के लिए कौन प्रयत्न करेगा? यदि गांव के वाहर खड़े हुए आकड़े के पौवे की टहनियों पर ही शहद का छत्ता मिल जाय तो नदी, नालों को कौन लांघे? पर्वतों पर जाकर कौन ठोकरें खाये? पुरुषार्थ के विना ही यदि इच्छित वस्तु मिल सकती हो, तो कोई क्यों पुरुषार्थ करे?

कसौटी पर

इस प्रकार जब शास्त्रीय दृष्टिकोण से और बुद्धि की कसौटी पर कसकर के इस प्रश्न को हम देखते हैं, तव यह आसानी से समझ में आ जाता है कि मनुष्य-मनुष्य के बीच में कोई भेद-भाव नहीं है। जो वर्ण-व्यवस्था कायम की गयी है, वह केवल समाज को सुव्यवस्थित तथा सुसंगठित करने के लिए ही कायम की गयी है। आज जाति के नाम पर अपने आपको ऊंचा समझने वालों ने धन पर, सत्ता पर, शिक्षा पर और विभिन्न प्रकार की सभी सामाजिक सुविधाओं पर कब्जा कर रखा है। वे अपने स्वार्थ को जीवित रखने के लिए, नहीं चाहते कि छोटी जाति के लोग आगे आयें और ऊपर उठें। वे अपनी हुकूमत को और अपने अधिकारों को सदा-सदा के लिए कायम रखना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चाहते हैं और छोटी जातियों के अथवा नीच कहलाने वाले वर्णों के लोगों का शोषण करते रहना चाहते हैं। तभी आज हम देखते हैं कि शूद्र वर्ण के लोग बहुत दुखी, गरीब और अज्ञानी हैं। उन्हें आनन्दपूर्वक जीने का अवसर नहीं है, न उन्हें पूर्णरूपेण प्रगति करने का अवसर भी उपलब्ध है। ऐसी दशा को देखकर हृदय में बड़ी खिन्नता एवं चिन्ता उत्पन्न होती है। अगर यही सिलसिला जारी रहा तो शूद्र वर्ण के लोगों का भविष्य बहुत अन्धकारमय प्रतीत होता है। हालांकि शूद्रों के हित में अनेक कानून बन गये हैं, अनेक संस्थाएं बन गयी हैं और वे कानून तथा वे संस्थाएं शूद्र वर्ण के लोगों की रक्षा का और उनके हित-साधन का दावा करती हैं। परन्तु ये कानून और संस्थाएं अधिकतर जबानी जमा-खर्च और कागजी कार्यवाहियों में ही व्यस्त हैं। आज भी समाज के प्रमुख पदों पर या शासन में या व्यापार में या उद्योग-धन्धों में उच्च वर्णों के लोगों का ही अधिकार है। जब तक वास्तविक जीवन में समानता का भाव नहीं आयेगा, तब तक केवल कानून किताबों की धरोहर बन जायगा। और ये ऊंचे नाम वाली संस्थाएं इतिहास की कहानी मात्र बन जायेंगी।

स्पष्टतः अब यह घोषित करना होगा कि कोई भी व्यक्ति जन्म से पवित्र या श्रेष्ठ नहीं है। और न जन्म से अपवित्र तथा नीच है। जिसका आचरण उत्तम है, जिसकी बुद्धि और भावना उत्तम है, वही श्रेष्ठ है। जो इस तत्त्व को नहीं मानता और मानव-मानव के बीच भेद-भाव खड़ा करता है, वह सामाजिक हिंसा का भागी है और यह हिंसा किसी भी जीव को मारने की हिंसा से कम भयानक नहीं है। जब तक सामाजिक हिंसा का यह स्रोत बन्द नहीं हो जायगा, तब तक अहिंसा के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति नहीं हो सकेगी। अहिंसक समाज-रचना के मार्ग में जातिवाद और वर्णवाद एक भयंकर रोड़ा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। इस रोड़े को हटाने के लिए व्यक्तियों के संस्कारों को बदलना होगा और चारों ओर से सामाजिक तथा सांस्कारिक क्रांति का नारा बुलन्द करना पड़ेगा। अगर हम चाहते हैं कि अहिंसा का अद्यतन विश्लेषण हो और मानव-जीवन में जहां-जहां हिंसा के कीटाणु व्याप्त हैं, वहां-वहां अहिंसा के हथियार का प्रयोग किया जाय तो हमें वर्ण-व्यवस्था की इस गलत मान्यता पर सबसे पहले प्रहार करना होगा, तथा मानवता को एवं सम्पूर्ण मनुष्य जाति को एकता के सूत्र में पिरोने का अनुष्ठान करना होगा। यदि हम आज के युग में भी अहिंसा की स्थापना के लिए समर्थ नहीं होते हैं और जातिवाद का निरसन करने के लिए आगे नहीं आते हैं तो हमारा भविष्य सुख-मय नहीं हो सकेगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मानवता का भीषण कलंक

●

जीवन है, समाज है और राष्ट्र है। इन तीनों का एक दूसरे के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है। वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के विविध रूपों में मानव अपनी भावनाएं क्रिया के रूप में अवतरित करता रहता है। वे भावनाएं हिंसा और अहिंसा के रूप में असंख्य भेदों के साथ प्रगट होती हैं। जिस किसी भी क्षेत्र में या जिस किसी भी ढंग से, जो भी ज्ञात या अज्ञात, सूक्ष्म या स्थूल, बाह्य या आन्तरिक हिंसा होती है, वहां मानव का सद्विवेक चाहता है कि हिंसा का स्थान अहिंसा ग्रहण कर ले। अहिंसा के द्वारा ही व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का त्राण सम्भव है। इसलिए मानव हर स्थान पर हर रूप में और हर क्षेत्र में हिंसा को पद्दलित करना चाहता है और अहिंसा को प्रोत्साहित करना चाहता है।

जो हिंसा क्रोध, मान, माया, लोभ एवं वासना के रूप में मानव मन के अन्दर-ही-अन्दर आग की तरह सुलगती रहती है, वह आंतरिक हिंसा है। इस हिंसा के माध्यम से हम किसी दूसरे की हत्या नहीं करते, बल्कि अपने ही अभद्र संकल्प से अपनी ही हत्या करते रहते हैं। आत्म-हत्या का अर्थ बन्दूक या पिस्तौल से, जहर खाकर या कुंएं में गिरकर मर जाना ही नहीं है। वह तो शरीर की ही हत्या हुई। किन्तु मनुष्य जब अपने सद्गुणों की, सद्विचारों की और सद्वृत्तियों की हत्या करता है, तो वह अधिक भयंकर आत्महत्या होती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्महत्या कायरता है। मानव-जीवन के साथ जहां तक कायरता आयेगी, वहां तक वह पतित होगा और सद्वृत्तियों से भ्रष्ट होगा। कायरता और भय ही मानव-जीवन के पतन का कारण है और हिंसा में केवल कायरता ही होती है, वीरता नहीं। जो आदमी डरता है, भय खाता है और अपने को बचाने के लिए या अपनी कुप्रवृत्तियों को बढ़ावा देने के लिए दूसरों पर क्रोध करता है, दूसरों को असद्-वचन कहता है या दूसरों को मार डालता है, वह निहायत डरपोक है और कायर है। जिसके हृदय में भय नहीं है, जिसको अपने जीवन की रक्षा का भार परेशान नहीं करता, वह अपने प्राण देकर भी दूसरों की रक्षा करने के लिए तत्पर रहता है। इसलिए वह वीर है और वही अहिंसक भी है।

भ्रम

कभी-कभी ऐसा होता है कि भ्रमवश हम कायरता को वीरता समझ लेते हैं। इतना ही नहीं बल्कि वह भ्रम मन को इस तरह दबोच लेता है कि हम हिंसा को भी अहिंसा का नाम दे देते हैं। यही कारण है कि दूसरों की हत्या करने वाले या दूसरों की हिंसा करने वाले, वीर कहलाने लगते हैं और धर्म के नाम पर, जाति-पांति के नाम पर, सम्प्रदाय के नाम पर होने वाली हिंसा को भी अहिंसा समझ लिया जाता है। इस प्रकार अहिंसा और हिंसा सम्बन्धी उलझनें अनेक बार पैदा होती हैं। किन्तु मानव अपने विवेक से काम लेता है और इन उलझनों को सुलझा लेता है। जहां उसे अपनी बुद्धि और अपना विवेक सहारा नहीं देता, वहां वह इतिहास का, धर्म-ग्रंथों का अथवा प्राचीन शास्त्रों का सहारा ले लेता है। शास्त्र चिंतन में सहायक हो सकते हैं। किन्तु आखिर तो मानव को अपने विवेक का निर्णय ही स्वीकार करना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पड़ता है। क्योंकि शास्त्रों का भी एक कोई निश्चित फलितार्थ कहां है? प्राचीन काल से ही पंडित लोग शास्त्रों का अनेक प्रकार से विश्लेषण करते हैं और मानव को अनेक विभिन्न विचित्र परिभाषाओं में उलझा देते हैं।

आज हिंसा का जो रूप बना है, वह रूप पहले नहीं था। जो हिंसा सामाजिक और सामुदायिक क्षेत्र में ज्यादा भयंकर और व्यापक हो रही है, उस सामाजिक और सामुदायिक हिंसा को बहुत-से लोग हिंसा ही नहीं समझते। एक अखंड मानव-जाति अनेक जातियों एवं उपजातियों में बंट गयी है। उसके असंख्य टुकड़े हुए हैं। उन टुकड़ों को कोई गिनना चाहे, तो शायद अच्छी तरह से गिन भी नहीं सकेगा। पिछले अध्याय में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि जाति एवं वर्णों के नाम पर किस तरह ऊंच-नीच की चौड़ी खाई खोदी हुई है। ये खाइयां उसी तरह मानव-जीवन को कष्ट पहुंचाती हैं जिस तरह पैर में घुसा हुआ और दिखाई न देने वाला कांटा सारे शरीर को पीड़ित करता रहता है।

ये भेद-प्रभेद कभी-कभी धर्म और इज्जत का प्रश्न सामने रखकर भीतर-ही-भीतर जल उठते हैं और फिर विस्फोट के रूप में बाहर भी फूट पड़ते हैं। इस विस्फोट में विद्वेष की आग सुलग उठती है। इस आग में बड़े-बड़े विचारक और समझदार आदमी भी अपनी जाति व संप्रदाय का स्वाभिमान बचाने के लिए हिस्सा लेने लगते हैं, भले ही वे विवश होकर ही हिस्सा लेते हों।

रोग

●

हम देखते हैं कि खंडित सामाजिकता का भाव यानी जाति-पांति, ऊंच-नीच आदि का रोग ऊपर से नीचे तक फैल गया है। जिन्हें ऊंच

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाति के लोग नफरत की निगाह से देखते हैं, वे भी छूत-अछूत के भेद-भाव से भरे हुए हैं। बड़े, छोटी जातियों से घृणा करते हैं, परन्तु वे छोटी जातियां भी अपने से छोटी समझी जाने वाली जातियों से उतनी ही घृणा करती हैं। ऐसी स्थिति में इस रोग को दूर करने के लिए बहुत बड़ी क्रांति की अपेक्षा है। गांधी को भी इसी प्रश्न को सुलझाने के लिए अपना बलिदान देना पड़ा। गोड़से के साथ उनका कोई व्यक्तिगत द्वेष नहीं था, क्योंकि बापू ने मुसलमानों को भी हिन्दुओं जितना ही प्यार किया, इसलिए उन्हें मार डाला गया। इस प्रकार के बलिदान हमारे अनेक पूर्वजों को भी देने पड़े हैं।

जातिगत, वर्णगत, सम्प्रदायगत और समूहगत जो हिंसा फूटती है, वह मनुष्य को मनुष्य के रूप में न देखकर घृणा और द्वेष की संकुचित दृष्टि से देखती है। कभी-कभी मनुष्य अपनी इन संकुचित वृत्तियों को दैनिक जीवन के व्यवहार में भी प्रगट कर देता है और उस कारण से वह अपनी व्यवस्थित नीतिमय परंपराओं को तोड़ डालता है। एक बालक ठोकर खाकर रास्ते में गिर पड़ता है, तो उस समय रूढ़िग्रस्त, जातिवादी लोग यह सोचने लगते हैं कि अगर यह बच्चा किसी हरिजन जाति का या नीची जाति का हो तो इसे नहीं उठाना चाहिए। यह कितनी निर्दयता की भावना है ? जिसके हृदय में थोड़ी-सी भी करुणा होगी, दया होगी, वह बिना किसी तरह का विचार किये, उस बच्चे को तुरन्त उठा लेगा; क्योंकि यह तो मानवता का परम कर्तव्य है।

जैन शास्त्र में हरिकेशी मुनि की एक प्रेरणाप्रद कहानी आती है। यह कहानी जैन साहित्य की अमूल्य निधि है और इस कहानी को पढ़ने से ऐसा लगता है कि हमारे पूर्वजों ने वे गलतियां नहीं कीं, जो गलतियां आज हम कर रहे हैं। हरिकेशी मुनि श्रेष्ठ गुणों के धारक,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इंद्रियों पर विजय प्राप्त करने वाले और महान् आदर्शवादी भिक्षु थे। उनके गुणों का उल्लेख करते हुए शास्त्रकार इस बात का भी उल्लेख करते हैं कि हरिकेशी मुनि चांडाल कुल में उत्पन्न हुए थे—बल्कि शास्त्र में सबसे पहले इसी बात का उल्लेख किया गया है।

सोवाग कुल संभूवो गुणुत्तरधरो मुणी
हरिएसवलो नाम आसी भिक्खु जिइंदियो।

यह उल्लेख हमें शास्त्रकारों के हृदय तक ले जाता है। इस कहानी को समझने के लिए हमें उस युग की परिस्थितियों को भी समझना चाहिए और इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि जिस जमाने में जातिवाद अत्यंत भयंकर रूप में फैला हुआ था, उस समय भी जैन शास्त्रकारों ने चांडाल कुल में उत्पन्न मुनि का गुणानुवाद किया है। जीवन-यात्रा में कभी-कभी बड़ी अटपटी घटनाएं आती हैं। सावधान रहने पर भी मनुष्य ठोकर खा ही जाता है। किन्तु सच्चा बहादुर वही है जो गिरकर भी उठ खड़ा होता है। हरिकेशी मुनि उन्हीं वीरों में से एक थे। उन्होंने अपने जीवन को एवं आत्मा को संभाला और वे अत्यन्त महान् व्यक्तित्व वाले मुनि बन गये। जब वे गृहस्थ थे, तब चारों ओर से उन्हें अनादर मिला। किन्तु जब उन्होंने अनादर का घूंट पीकर अपने मन को स्थिर किया तो वे श्रेष्ठ गुणों को धारण करने वाले जितेन्द्रिय भिक्षु बन गये। भगवान महावीर स्वयं कहते हैं कि जाति की कोई विशेषता नहीं है। तपस्या की ही विशेषता है। जीवन की पवित्रता व साधना ही मानव को विशिष्ट बनाती है। जाति तो केवल अहंकारजन्य विकार है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हरिकेशी मुनि हैं। चांडाल का लड़का भी कितना ऊंचा उठ सकता है, यह हरिकेशी मुनि ने अपनी उत्कृष्ट साधना से साबित कर दिया। उनका आध्यात्मिक तेज और उनका विमल यश चारों ओर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्याप्त हुआ। जैन शास्त्रों की इतनी सचोट आवाज को सुनकर भी यदि हमारे रूढ़िचुस्त समाज के लोग अपनी आंखें नहीं खोलते तो उसके लिये कोई उपाय नहीं है।

अन्य उदाहरण

आखिर कर्ण भी तो सूतपुत्र थे। किन्तु अपने पुरुषार्थ और प्रयत्न के द्वारा उन्होंने अपने जीवन का जो नव-निर्माण किया, उससे वे अनेकानेक क्षत्रियों से भी अधिक वलवान सावित हुए। उन्होंने कहा कि किस कुल में मेरा जन्म हो, यह मेरे हाथ में नहीं था, प्रकृति के हाथ में था। किन्तु पुरुषार्थ तो मेरे हाथ में है। फिर मैं क्यों न पुरुषार्थ करूं ? मैं जन्म से न सही किन्तु अपने कर्म से क्षत्रिय वन गया हूं।

इसी तरह बाल्मीकि भी पहिले एक डाकू ही तो थे। किन्तु जब उनके हृदय में परिवर्तन आया और जब उनके अन्तर मन में करुणा का झरना फूटा तो रामायण के रूपमें एक महाकाव्य ही फूट पड़ा। उनके इस अप्रतिभ कवित्व ने सारे समाज को चमत्कृत कर दिया।

इन सारे ऐतिहासिक संदर्भों के बाद, यह अच्छी तरह प्रमाणित हो जाता है कि जाति और वर्ण की मान्यताएं नितांत अव्यावहारिक, अपंग और अवैज्ञानिक हैं। आज तो प्रत्यक मानव को अत्यन्त उदार वनने की आवश्यकता है। उदारता ही इस युग की सबसे बड़ी मांग है। यदि हृदय में उदारता न हो, तो सारा सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन सूखा मरुस्थल ही बन जायेगा।

अभिप्राय यही है कि जहां ईर्ष्या है, द्वेष है, घृणा है और मनुष्य के प्रति थोड़ी-सी भी हीन भावना है, तो वह हिंसा है। अहिंसा की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साधना के लिए पहले हिंसा के समस्त उपकरणों से मुक्त हो जाना चाहिए। जब हमारा मन, विचार और मस्तिष्क इस बात के लिए राजी हो जायेगा कि हमें अनावश्यक संग्रह, लोभ और वासना में नहीं पड़ना चाहिए, तब सहज ही ये बातें प्रकट हो जायेंगी। हिंसा, यानी समाज को खंडित करने का विचार और अहिंसा यानी समाज को एक सूत्र में पिरोने का विचार। इन दोनों विचारों में से हमें एक को चुन लेना चाहिए। अगर हम समाज की एकता में और मानव मात्र की एकता में विश्वास करते हैं, तो हमें अहिंसक समाज पद्धति की संपूर्ण कल्पना को चरितार्थ करना चाहिए और उसके लिए मानवता के इस कलंक को यानी जातिवाद के पाप को शीघ्र ही धो डालना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पवित्रता का मूल स्रोत

जीवन की सफलता क्या है ? बहुत से लोग धन को पा लेने से, सत्ता को पा लेने से, यश को पा लेने से अथवा इसी तरह के अन्य साधन पा लेने से जीवन की सफलता मान बैठते हैं। परन्तु ये सब सफलताएं क्षणिक हैं, नश्वर हैं और वास्तविक आनन्द को प्राप्त करने वाली नहीं हैं। जीवन की वास्तविक सफलता है, आत्मा की पवित्रता। यह पवित्रता संसार भर के आदर्शों और सिद्धान्तों को समान रूप से मान्य है। मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य भी आत्मा की पवित्रता ही है। सब की एक ही राह है। रास्ते में भले ही हम अलग-अलग रूपों में अपनी बातें प्रकट करते हों, सम्प्रदाय के रूप में, धर्म, मत, पंथ और जातियों के रूप में भले ही अलग-अलग दिखाई देते हों, किन्तु जीवन के अन्दर की राह तो एक ही है। वह है आत्मा की पवित्रता। जिसका मन, जिसका जीवन और जिसकी भावनाएं पवित्र नहीं हैं, वह इस दुनिया में चाहे जितनी भौतिक सफलता प्राप्त कर ले, लेकिन वास्तव में वह ऊंचा आनन्द प्राप्त नहीं कर सकता। जीवन की पवित्रता के जो साधक हैं, वे अपना उत्थान करते हैं और जीवन विकास की सही दिशा में दृढ़ता के साथ कदम बढ़ाते हैं।

प्रश्न यह है कि यह आंतरिक पवित्रता कैसे हासिल हो ? जब तक हमें पवित्रता तक पहुंचने का मार्ग नहीं मिलेगा, तब तक हम इधर-उधर जंगल में भटकते ही रहेंगे। पवित्रता का एकमात्र राज मार्ग अहिंसा है। हमें जो मनुष्य-जीवन मिला है, वह एक कीमती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धरोहर है और मनुष्य-जीवन में ही हम अहिंसा की पराकाष्ठा तक पहुंच सकते हैं। मनुष्य के अलावा कोई भी प्राणी हिंसा और अहिंसा का विवेक नहीं कर सकता। यदि हम मनुष्य का जीवन पाकर भी उसका सदुपयोग नहीं करते और यह नहीं सोचते कि इस जीवन का उद्देश्य क्या है, इस जीवन का उपयोग संसार के कल्याण के लिए कैसा हो सकता है, जनता के दुख-दर्द को कम करने और समाज में सद्गुणों के निर्माण का प्रसार करने में यह जीवन कैसे सहायक हो सकता है, इत्यादि पहलुओं पर यदि हम विचार नहीं करते तो फिर मनुष्य का जीवन पाकर भी हमने उसके महत्त्व का मूल्यांकन नहीं किया, यही समझा जायेगा।

भगवान महावीर का दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में बहुत साफ है। वे कहते हैं कि, हमने जो जीवन पाया है, उसका उपयोग समाज की समस्याओं को सुलझाने के लिए करें। अगर ये समस्यायें वैयक्तिक और पारिवारिक भूलों से पैदा हुई हैं, तो उन भूलों की खोज करो। यदि वे समस्याएं समाज की भूलों से पैदा हुई हैं, तो उन्हें भी ठीक करो। इस प्रकार हमारे देश में या आस-पास के संसार में जो भूलें या गलतियां हो रही हों और जिनके कारण मानव-जीवन में कांटे पैदा हुए हों, उनको भी एक-एक करके दूर करो। जीवन-मार्ग को अपने लिए और दूसरों के लिए साफ, सरल और आसान बनाओ। यही मनुष्य-जीवन का वास्तविक उपयोग है।

जितने भी मनुष्य हैं, वे चाहे संसार के एक छोर से दूसरे छोर तक कहीं भी क्यों न फैले हों, सब मनुष्य के रूप में एक हैं। उनकी जाति और वर्ग मूलतः अलग-अलग नहीं हैं। इसलिए समस्त मानव-जाति के साथ समानता का व्यवहार ही अहिंसा की पहली शर्त है। जो व्यक्ति मानव मात्र के साथ समानता का व्यवहार नहीं करता, गरीबी और अमीरी के आधार पर मानव का अपमान करता है या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सत्ता और सम्पत्ति के अभिमान में निर्बलों और गरीबों का शोषण करता है, वह मनुष्य-जीवन के साथ अन्याय करता है।

हीन भाव

कुछ लोगों में स्वाभाविक रूप से अपने आपको दीन-हीन समझने की हीन मनोवृत्ति भी पाई जाती है। वे अपने में दुनिया भर की कमजोरियां महसूस करते हैं और अपने को बहुत निम्न कोटि का मान बैठते हैं। इन्हीं हीन भावनाओं का यह दुःखद परिणाम है कि ऐसे लोग हर समय रोते और गिड़गिड़ाते हुए दिखाई देते हैं। उनमें आत्म-विश्वास नहीं होता और पुरुषार्थ भी नहीं होता। उनमें जो अनन्त शौर्य और शक्ति है, उसके प्रति वे स्वयं आस्थावान नहीं होते। मनुष्य के भीतर जो अहम् है, वही स्वयं आत्मा है। अहम् के अतिरिक्त मानव कुछ भी नहीं है। क्योंकि अहं को त्याग करने का विचार तो स्वयं आत्मा कर ही नहीं सकती; क्योंकि आत्मा भला आत्मा का त्याग कैसे करे? अतः अहं को छोड़ना न तो शक्य है और न वांछनीय है। जो अहं को छोड़ देता है, वह अपना स्वाभिमान भी छोड़ देता है और जिस मनुष्य के पास अपना कोई स्वाभिमान नहीं, वह मनुष्य ही क्या है? अहं कभी विकृत रूप में प्रकट नहीं होना चाहिए। जब अहं अभिमान का रूप धारण करता है, तब वह मनुष्यों के बीच भेद और कटुता पैदा कर देता है। किन्तु जब वही अहं स्वाभिमान के रूप में प्रकट होता है, तब प्रत्येक मनुष्य की प्रतिष्ठा दुगुने वेग के साथ बढ़ने लगती है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने अन्दर कभी भी हीन भावना को स्थान न दें। सदा उसे यही समझना चाहिए कि मेरा जीवन कीड़ों की तरह रेंगने के लिए या रगड़ खाने के लिए नहीं है। मुझमें अनन्त शौर्य है, पुरुषार्थ है और कार्य-शक्ति है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मैं अपना और समाज का निर्माण कर सकता हूं। उसके लिए मुझे अपने जीवन को, अपने हृदय को और अपनी आत्मा को पवित्र बनाना चाहिए। जो आत्मा है, वही परमात्मा बन सकती है। इसलिए मेरी आत्मा कमजोर या दुर्बल नहीं है।

जब मनुष्य के मन में इतना आत्म-विश्वास जागृत हो जायेगा तब वह किसी भी शोषक के चंगुल में नहीं फंस सकता। जब कोई शोषक उस पर अन्याय करेगा, शोषण करेगा या उसके अधिकारों पर आक्रमण करेगा, तो वह मनुष्य उस शोषण के खिलाफ खड़ा हो जायेगा और उस अन्याय का मुकाबला करेगा। क्योंकि वह जानता है कि मैं सब कुछ कर सकता हूं। परन्तु जो व्यक्ति हीन भावना का शिकार होगा वह घुटने टेक देगा, दब जायेगा और यह मान बैठेगा कि मैं तो कुछ भी नहीं कर सकता। मैं तो एक दुर्बल और कमजोर मनुष्य हूं। इसलिए यह धनवान या सत्ताधिकारी जो-कुछ आज्ञा देता है, उसी का मैं पालन करूं। यहीं से शोषण का प्रारम्भ होता है; यहीं से अन्याय का बीज अंकुरित होता है।

मानव-जीवन के भविष्य में असीम संभावनाएं और असंख्य ऊंचाइयां विद्यमान है। कोई भी बच्चा मां के पेट में महान अथवा धनवान अथवा सत्ताधिकारी बन कर नहीं आता। कुछ आवश्यक परिस्थितियों का सहयोग भी सबको नहीं मिलता। किन्तु इतिहास साक्षी है कि अनेक ऐसे महापुरुष हुए जो बचपन में बिलकुल गरीब, असहाय और सुविधाओं से वंचित थे। लेकिन उन्होंने पुरुषार्थ किया। सच्ची लगन के साथ संघर्ष किया और आखिर वे एक दिन समाज की प्रथम श्रेणी के लोगों में जा बैठे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सौं

घृणा किस से ?

●

एक आदमी शराब पीता है। समाज की दृष्टि में वह गिर जाता है। किन्तु कल वह शराब छोड़ देता है और सभ्यता के मार्ग पर आ जाता है, तो वह समाज की दृष्टि में ऊंचा चढ़ जाता है। वास्तव में शराब बुरी चीज है। अतः वह कभी ठीक होने वाली नहीं है। चाहे वह ब्राह्मण के हाथ में हो अथवा शूद्र के, महल में रखी हो या झोंपड़े में। बुरी वस्तु बुरी ही होगी। किन्तु आदमी बुरा नहीं होता। वह पवित्र है और पवित्र ही रहता है। एक व्यक्ति जब शराब नहीं पी रहा होता है तो अच्छी निगाहों से देखा जाता है और जब शराब पीने लगता है, तब वह समाज की निगाहों में गिर जाता है। किन्तु वापिस शराब पीना छोड़ते ही वह पवित्र हो जाता है। ऐसा इसीलिए होता है क्योंकि मानव सदा पवित्र ही होता है। चोर यदि चोरी करना छोड़ देता है तो वह पवित्र बन जाता है। इसलिए घृणा पाप से की जानी चाहिए, पापी से नहीं। ये बुराइयां भी एक तरह से रोग हैं। जैसे कुष्ठ के रोगी से भी हम घृणा नहीं करते, बल्कि सेवा-सुश्रूषा करके उसे तन्दुरुस्त बना देते हैं, उसी तरह मनुष्य में जो बुराइयां पैदा हो जाती हैं, उन्हें भी दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। मनुष्य से कभी भी नफरत नहीं करनी चाहिए। सोचना चाहिए कि एक भला चंगा आदमी आखिर शराब क्यों पीने लगा ? चोरी क्यों करने लगा ? व्यभिचार क्यों करने लगा ? उसके पीछे उसका कौनसा मनोविज्ञान काम कर रहा है ? इन बुराइयों के उत्पन्न होने के लिए कौनसी परिस्थिति जुटी और किस वातावरण को अनुकूलता प्राप्त हुई ? इन सब बातों पर गम्भीरता से विचार करके फिर उन परिस्थितियों को मिटाने के लिए एक व्यवस्थित योजना बनानी चाहिए। उस योजना के अनुसार कार्य करना चाहिए। फिर उस पापी मनुष्य के साथ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कोमल व्यवहार करते हुए धीरे-धीरे इस तरह से पेश आना चाहिए कि जिससे वह स्वयं अपने पाप से नफरत करने लगे और अच्छाई की तरफ उन्मुख हो जाय। इस तरह की मानसिक चिकित्सा से ही ये मानसिक रोग दूर हो सकते हैं।

आज जिधर भी दृष्टि दौड़ाते हैं, उधर ही घृणा और द्वेष के अशुभ चिह्न दिखाई देते हैं। घृणा और द्वेष का मूल कारण मन की संकीर्ण भावनाएं हैं। यह संकीर्णता ही हिंसा है। इस संकीर्णता को जब हम मिटा देंगे और अपने हृदय को बहुत उदार तथा विशाल बना लेंगे, उसी दिन अहिंसा प्रगट हो जायेगी।

पवित्रता

पवित्रता का सन्देश न केवल जैन विचारकों ने बल्कि संसार भर के विचारकों ने एक स्वर से दिया है, किन्तु इतना अवश्य मान लेना चाहिए कि यह पवित्रता जाति, वंश अथवा वर्ग से सम्बन्धित नहीं है। पवित्रता को प्राप्त करने के लिए साधना और तपस्या की आवश्यकता है। वाल्मीकि अपने प्राथमिक जीवन में अत्यन्त क्रूर डाकू था और समाज में चारों ओर अव्यवस्था उत्पन्न करने वाला एक लुटेरा था। उसके हाथ खून से भरे रहते थे। किन्तु जब जीवन की पवित्र राह मिली और उनके हृदय में करुणा का स्रोत फूटा तब वे महाकवि बन गये, महर्षि बन गये। इसी तरह अर्जुनमाली की कहानी जैन ग्रंथों में इसी दृष्टिकोण को प्रतिपादित करने वाली है। नरहत्या जैसा जघन्य कर्म करने वाला और हिंसक वृत्ति में आकण्ठ डूबा रहने वाला अर्जुन-माली एक दिन इन समस्त घृणास्पद वृत्तियों को त्याग कर ऋषि बन जाता है और स्वयं भगवान महावीर उसे अपना वरदहस्त प्रदान करते हैं। बौद्ध-साहित्य में अंगुलीमाल की जो प्रेरणाप्रद कथा मिलती है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वह भी इसी बात का प्रमाण है कि मानव-मात्र से घृणा करने वाला एक व्यक्ति कैसे भिक्षु बनकर पवित्रता की मंजिल प्राप्त कर लेता है।

इन तीनों उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि निम्न श्रेणी में, निम्न कोटि का काम करने वाला आदमी भी जब जीवन की वास्तविकता को परख लेता है, तब पवित्र बन सकता है। किन्तु अगर हम अपने हृदय की प्रवृत्तियों को काबू में न रखें, अपने विचारों को नियंत्रित न करें, अपनी इन्द्रियों को संयमित न रखें, तब भला पवित्रता जैसी चीज कैसे उपलब्ध हो सकती है ?

यह शरीर

एक आत्म-साधक व्यक्ति निरन्तर यह सोचता रहता है कि मैं इस शरीर से भिन्न हूं। यह शरीर अपवित्र है, अशुद्ध है। मेरी आत्मा पवित्र है और शुद्ध है। इसलिए इस शरीर का मुझे मोह नहीं करना चाहिए और कभी भी इन शारीरिक वासनाओं में आसक्त नहीं होना चाहिए। परन्तु यदि कोई व्यक्ति इस शरीर की अपवित्रता का विचार करते समय अपनी आत्मा को भी अपवित्र समझ ले और फिर पवित्रता की साधना ही न करे, तब तो अत्यन्त गैर मुनासिब परिस्थिति उत्पन्न हो जायेगी।

हां, तो शरीर की अपवित्रता और आत्मा की पवित्रता इन दोनों बातों को अच्छी तरह से समझ लेना आवश्यक है। यह शरीर एक भौतिक उपलब्धि है। अतः इस शरीर की अपवित्रता भी मुख्यतः भौतिक ही है। हमें चारों ओर जो भी स्थूल गन्दगी दिखाई देती है, वह भी इस शरीर के कारण ही है। यह हड्डियों का ढांचा और मांस का लोथ चमड़े से ढका हुआ है। इस शरीर में मलमूत्र आदि पदार्थ भरे हुए हैं। यह शरीर किसी भी वस्तु को अपने अन्दर ग्रहण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करते ही उसे अपवित्र बना देता है। चाहे भोजन कितना ही पवित्र और स्वच्छ क्यों न हो, जैसे ही वह शरीर के सम्पर्क में आता है, दूषित बन जाता है और सड़ जाता है। मनुष्य जिस मकान में रहता है, वहां भी शरीर के द्वारा ही गन्दगी उत्पन्न होती है। शहर की गली-कूचों की गन्दगी का कारण भी यह शरीर ही है। मनुष्य के शरीर के सम्पर्क से हवा, पानी, मकान आदि सभी चीजें मलिन हो जाती हैं। किन्तु आत्मा पूर्णतः पवित्र है। उसमें कहीं भी मलिनता नहीं है। आत्मा एक अनुपम कल्पनातीत वस्तु है, जो चैतन्यमय है, प्रकाशमय है और स्फूर्तिमय है। व्यक्ति-व्यक्ति की आत्मा अलग-अलग होते हुए भी उन सब आत्माओं में कोई भेद नहीं है। वेदान्त-दर्शन तो सम्पूर्ण जगत् में एक ही ब्रह्म को स्वीकार करता है। अद्वैत-वादी यह मानते हैं कि इस संसार में ब्रह्म एक है और वही सत्य है। वेदान्त के आचार्यों ने इतनी बड़ी बात कह दी है, फिर भी पुरानी वृत्तियां अभी तक मर नहीं सकी हैं। अभी भी अद्वैत और वेदान्त को मानने वाले व्यावहारिक जीवन में इस एकता को उतार नहीं सकते। यदि यह व्यापक एकता व्यावहारिक जीवन में उतर जाय, तो फिर कोई भी व्यक्ति किसी की भी हिंसा के लिए उतारू नहीं होगा। जब वह सोचेगा कि मैं जिस पर हावी हो रहा हूं, जिस पर अन्याय कर रहा हूं या जिसकी हिंसा कर रहा हूं, वह स्वयं मैं ही हूं, जब इतना अपनत्व, इतनी एकता और इतना स्नेह जागृत हो जायेगा, तब हिंसा के लिए गुंजाइश रह ही नहीं सकती। यह बड़ी मनोरम कल्पना आचार्यों ने की है। क्योंकि वे सारे संसार को भावनात्मक एकता के सूत्र में पिरोना चाहते थे। संसार की समस्त शक्तियों को किसी एक ही पुंज में निबद्ध करके उन्होंने समस्त भेदभावों को मूल से विनष्ट कर देने की योजना बनाई थी। किन्तु दुर्भाग्य से वह कल्पना केवल शास्त्रों और ग्रन्थों की धरोहर बनकर रह गई अथवा विवाद का विषय बनकर रह गयी। यही कारण है कि आज समस्त सृष्टि में एक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही ब्रह्म के होने का दर्शन बघारने वाले भी शोषण, अन्याय और क्रूरता के चंगुल में फंसे हुए दीख पड़ते हैं। पुराने आचार्यों ने जो मन की संकीर्णता का निरसन करने के लिए मार्ग निकाला था, वह मार्ग अब करीब-करीब अव्यावहारिक-सा बन गया और आज तक जीवन में कहीं भी उस ऊंचे आदर्श का दर्शन नहीं होता। मनुष्य जाति आज अनेक टुकड़ों में बंट गयी है और प्रत्येक टुकड़ा दूसरे टुकड़े के प्रति इस तरह घृणा का भाव प्रदर्शित करता है मानो वह दूसरा टुकड़ा सर्वथा अपरिचित हो या दुश्मन हो। आज मनुष्य के आचार-विचार का कोई मूल्य नहीं रह गया है और एकता के सारे सूत्र किसी व्यक्ति ने मानो हाथ में कैंची लेकर जगह-जगह से काट डाले हैं। इसी कारण से भारत की सांस्कृतिक और भावनात्मक एकता नेस्तेनाबूद हो गयी है।

आज हमारे देश में जाति के नाम पर, धर्म के नाम पर, पंथ के नाम पर, भाषा के नाम पर, प्रान्त के नाम पर रोज लड़ाइयां होती हैं, रोज गोलियां चलती हैं, रोज दंगे होते हैं तथा रोज संघर्ष के समाचार सुनने को मिलते हैं। बंगाली-बिहारी का प्रश्न, मराठी-गुजराती का प्रश्न, दक्षिण-उत्तर का प्रश्न, हिन्दी-पंजाबी का प्रश्न न जाने कितने प्रश्न आज देश को अव्यवस्थित बना रहे हैं और भारतीय मनुष्य को संकीर्णता के बंधन में बांध रहे हैं। ये सारे भेद-भाव तभी दूर हो सकते हैं, जब हम यह समझ लें कि सम्पूर्ण मानव जाति एक ही है और यह एकता ही मानवता का वरदान है। क्योंकि अहिंसा का मूल स्रोत मानव मात्र की एकता में विश्वास करना है। वस्तुतः अहिंसा मानवमात्र तक ही सीमित नहीं रहती, बल्कि वह प्राणीमात्र तक पहुंचती है।

हम देखते हैं कि अनेक मनस्वी और विचारक प्राणीमात्र से प्यार करते हैं। केवल मनुष्य से ही नहीं, बल्कि पक्षियों से, पशुओं से,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बिल्लियों से, पेड़-पौधों से यानी सम्पूर्ण प्रकृति से प्यार करते हैं। उनके हृदय में स्नेह की ऐसी गगरी भरी होती है, जिसे वे अहिंसा के साधक प्रकृति की हर वस्तु पर उंडेलना चाहते हैं। कितना आनन्द-मय और कितना स्नेहमय उनका हृदय होता है! और इस कोमलता के कारण उनके जीवन को कितना सुख प्राप्त होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शोषण भी हिंसा है

मनुष्य के सामने एक सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि उसके जीवन का यानी उसके रहन-सहन, उसके आचार-व्यवहार इत्यादि का तौर तरीका कैसा है, वह जिस मानव-समाज में रहता है, उस समाज के अन्य मनुष्यों के साथ उसके सम्बन्ध कैसे हैं ? जबतक यह स्पष्ट रूप से वह निर्णय नहीं कर पाता है कि मानव समाज के सभी मनुष्यों के साथ उसके सम्बन्ध स्नेहल और समताभाव वाले हैं या नहीं, तब तक वह पूर्णतः मानवता के मार्ग पर आगे नहीं बढ़ सकता।

मनुष्य सब समान हैं। राजा और रंक यानी अमीर और गरीब के भेद कृत्रिम हैं। इसलिए किसी भी मनुष्य को यह अधिकार नहीं है कि वह दूसरों के सुखों को छीनने का कोई भी प्रयत्न करे या दूसरे के शोषण की बुनियाद में अपने सुख का महल खड़ा करे। जाति-पांति के आधार पर या किसी भी अन्य भौतिकता के स्थूल आधार पर पनपते हुए वर्गवाद में हम एक प्रकार की ऐसी शोषणमय वृत्ति पाते हैं जिसके अनुसार एक वर्ग दूसरे वर्ग पर हावी होना चाहता है। अमीरों का वर्ग गरीबों के वर्ग पर ही खड़ा है। यद्यपि न हम अमीरी की निन्दा करते हैं, न गरीबी की तारीफ करते हैं। ये दोनों ही समाज के लिए वरदान नहीं हैं। समाज के लिए तो समानता का महान सूत्र ही वरदान है। अमीरी और गरीबी तो समाज में एक रोग के रूप में ही प्रगट होती हैं। वस्तुतः एक ऐसा धनवान, जो अपने पास के धन को समाज की सम्पत्ति मानता है और समाज के लाभ के लिए उसे सुर-क्षित रखता है, तथा समाज के लाभ के लिए ही धन का व्यय करता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, वह धनवान अवश्य ही प्रशंसा का पात्र है। किन्तु अगर कोई धनवान अपने धन को वैयक्तिक सम्पत्ति मानकर अनैतिक मार्गों से धन का उपार्जन करता है, उस धन की सुरक्षा करता है और फिर अपने भोग-विलास के लिए अथवा अपनी वासनाओं की पूर्ति के लिए उस धन का व्यय करता है, तो वह धनवान, समाज की सम्पत्ति के साथ खिलवाड़ करता है। इसी तरह एक गरीब है और उसके पास पैसा नहीं है; किन्तु उसका जीवन, उसका आचार, उसके विचार, उसका रहन-सहन, नैतिक है, उन्नत है, न्याय-प्रधान है, तो निश्चय ही वह गरीब भी एक आदर्श मानव है। किन्तु अगर कोई गरीब अपनी गरीबी के लिए रोता रहे, उसके लिए अपने भाग्य को कोसता रहे, कोई पुरुषार्थ न करे, तो वह गरीब भी समाज के लिए भारस्वरूप बन जाता है। लेकिन मुख्य बात तो यह है कि गरीबी और अमीरी के भेद को जड़ मूल से मिटाकर मानव मात्र की समानता, मानव मात्र की एकता और मानव मात्र की बन्धुता के सिद्धान्त को संपूर्ण समाज में कायम करना चाहिए। जहां समानता, एकता और बन्धुता जैसे महान सद्गुण हैं, वहां किसी तरह की कोई हिंसा समाज में नहीं हो सकती। जहां ऐसे सद्गुण विकसित और पल्लवित हो रहे हैं, वहीं प्रशंसा के उद्गार प्रकट हो सकते हैं।

कर्तव्य

एक राजा यदि ऐसा समझता है कि वह जनता की सेवा के लिए राज्य की व्यवस्था को संभाल रहा है, उसे राज्य के मोह में नहीं पड़ना चाहिए, न राज्य का अहंकार करना चाहिए; बल्कि राज्य के समस्त साधन जनता के लाभ के लिए, जनता की सेवा के लिए जुटा देने चाहियें तो वह राजा और वह शासक सच्चा देश भक्त और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सच्चा राष्ट्रवादी कहलायेगा। उसकी हम कभी भी निन्दा नहीं कर सकते, सदैव उसकी प्रशंसा होगी। किन्तु यदि वही राजा राज्य का दुरुपयोग करे, राज्य को अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए अपने पीछे मोड़ ले और जनता की सेवा करने के स्थान पर अपने वर्ग की, अपनी जाति की, अपने घर की उन्नति में ही लगा रहे, तो वह राजा और वह शासक सदैव निन्दा का पात्र बनता है। इसी तरह यदि गरीब मजदूर मेहनत और पुरुषार्थ से घबड़ाकर चोरी करता है, शराब पीता है, निरन्तर कुसंगति में लगा रहता है तो वह समाज के लिए निश्चय ही एक जहर का काम करता है और "पहले से करेला वह भी नीम चढ़ा" वाली कहावत के अनुसार, एक तो गरीब और दूसरे वह चोर, झूठा, हिंसक, दंभी और व्यभिचारी। जब ये दो-दो भयानक रोग एक साथ मिल जाते हैं, तब समाज के लिए कितना अभिशाप बनकर वह गरीब मजदूर अपने राष्ट्र को गर्त में ले जाता है, इसकी सहज कल्पना की जा सकती है।]

मुख्य प्रश्न अमीरी और गरीबी का नहीं है। प्रश्न तो यह है कि तुमने संसार को क्या दिया? क्या तुमने मनुष्य के साथ मनुष्योचित व्यवहार किया है? तुम देवता नहीं बन सके, तो कोई आपत्ति नहीं है, लेकिन तुमने इन्सान का सा उठना, बैठना, बोलना-चलना सीखा है या नहीं? अगर तुम सही अर्थों में इन्सान हो तो फिर गरीबी और निर्धनता कोई अर्थ नहीं रखती। वह नगण्य है और हमारे विकास के मार्ग को रोकने में असमर्थ है। किन्तु यदि अमीर होते हुए भी तुममें इन्सानियत नहीं है, मानवता का व्यवहार नहीं है, मानव के साथ प्यार करने की उत्कण्ठा नहीं है, तो तुम्हारी अमीरी भी तुम्हारे विकास के मार्ग में रोड़ा बन जायेगी और तुम्हें पतन के गर्त में ढकेल देगी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छोटा कद

भारतीय विचारकों ने अद्वैत के रूप में या मानव-मात्र की समानता के सिद्धान्त के रूप में बहुत ही ऊंचा आदर्श हमारे सामने रखा। किन्तु उसकी तुलना में आज हम इतने नीचे आ गये हैं कि उसको अच्छी तरह छू भी नहीं सकते हैं। आचरण-हीनता के कारण हमारा कद छोटा हो गया जबकि सिद्धान्तों का कद बहुत ऊंचा है। जैसे बौना आदमी किसी लम्बे कद वाले के पास खड़ा हो और वह उसके कन्धों को नहीं छू पाता है, उसी तरह आज हम अहिंसा और सत्य के ऊंचे आदर्शों को छू नहीं पा रहे हैं। इसलिए आवश्यकता है ऐसे अभ्यास और प्रयत्न की जिसके कारण हमारा कद ऊंचा हो सके और हम अपने समानता के ऊंचे आदर्श को अपने जीवन में उतार सकें।

राम द्वारा शोषण

शोषण का सिद्धान्त आज नया नहीं निकला है। हम ऐसा मानते हैं कि हमारे इतिहास में अनेक महापुरुषों ने भी शोषण का रास्ता सर्वथा बन्द कर दिया हो, ऐसी बात नहीं है। वे परिस्थितियों के सामने मजबूर होकर स्वयं भी शोषण के रास्ते से चल पड़े। इसका एक उदाहरण राम द्वारा सीता को वन में भेज देना है। मैं इस सम्बन्ध में जितना भी तर्क और बुद्धि की कसौटी पर विश्लेषण करता हूं, उतना ही मेरे मस्तिष्क में यह स्पष्ट होता जाता है कि राम ने सीता का त्याग कर के न्याय नहीं किया, बल्कि सीता के मानस का शोषण किया। यदि राम स्वयं सचमुच सीता को पतित समझते होते तो उनका कार्य उचित समझा जाता। किन्तु उन्हें तो सीता के सतीत्व और पवित्रता का पूरा भरोसा था, फिर भी उन्होंने गर्भवती सीता को जंगल में छोड़ दिया। जो राम प्रभावशाली रावण के सामने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं झुके, वे एक नादान धोबी के सामने झुककर इतिहास की एक बहुत बड़ी भूल कर बैठे। यदि उन्हें राजा का आदर्श उपस्थित करना ही था तो वे स्वयं सिंहासन छोड़कर अलग हो जाते। राजा अभियुक्त को अपनी सफाई देने का अवसर देता है। पर राजा राम ने तो सीता को ऐसा अवसर भी नहीं दिया। सीता को अपने अपराध का पता भी नहीं चला और जब उसे पता चला, तब वह दंडित की जा चुकी थी। इस प्रकार आदमी ने ही आदमी पर दुख लाद दिया। पति ने ही पत्नी को दुर्दिन के दावानल में झोंक दिया। लक्ष्मण सीता को रहस्यमय ढंग से यात्रा कराने के बहाने वन में ले जाता है। वन में पहुंचने पर सीता के परित्याग का जब अवसर आता है, तब लक्ष्मण के धैर्य का बांध टूट जाता है। उसके हृदय की करुणा फूट पड़ती है। भयानक-से-भयानक परिस्थिति में भी चट्टान की तरह दृढ़ रहने वाला लक्ष्मण इस करुण परिस्थिति को देखकर रो उठता है। मैं इस अन्याय को कभी भी राम के नाम से न्याय कहने के लिए तैयार नहीं हूं। यह एक प्रकार का शोषण ही है।

ब्याज-बट्टा

●

इसी तरह दूसरे प्रकार का एक और शोषण बहुत पुराने काल से चला आ रहा है और वह शोषण ब्याज-बट्टे के रूप में यानी सूद-खोरी के रूप में चलता है। यह रुपया क्या है? इसकी उपयोगिता क्या है? यह तो बोझ की तरह है। एक रुपया लीजिए, उसे तिजोरी में बन्द कर दीजिए और कई वर्षों के बाद उसे निकालिये। वह एक का दो नहीं होता। इस प्रकार रुपया अपने आप में बांझ है। जब उस रुपये को किसी उद्योग-धन्धे में लगाते हैं, खेती-बाड़ी में लगाते हैं या उस रुपये का आदान-प्रदान होता है, तब वह रुपया जिन्दा हो जाता है। तिजोरी में कैद रुपया मुर्दा रहता है। जब रुपया जीवित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अवस्था में रहता है, तब वह व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र के लिए खाना लाकर देता है। किन्तु मुर्दा रुपया चारों ओर की हलचल से हटकर जमीन में या तिजोरी में बन्द हो जाता है। परन्तु रुपये को क्रियाशील बनाते समय भी यह ध्यान अवश्य रखना पड़ेगा कि वह रुपया किसी अनीति और अन्याय के मार्ग पर न चला जाय। ब्याज लेकर रुपया देने की बात भी इसी तरह से अनीति और अन्याय के मार्ग की बात है।

ब्याज के बारे में भी अनेकों प्रकार के रिवाज चालू हैं। जब एक रुपया लेने आता है तो ब्याज के दर कम हो जाते हैं। किन्तु जब एक साधारण आदमी वह रुपया लेने आता है तो उसी रुपये के दर दुगुने, तिगुने तक चढ़ जाते हैं—हालांकि उस साधारण आदमी को रुपयों की अनिवार्य आवश्यकता होती है। यहां तक कि उसका परिवार भूखों मर रहा होता है। व्यापार में वह चोट खा चुका है। ऐसी परिस्थिति में उसे रुपया न मिलने पर उसका परिवार नष्ट-भ्रष्ट हो सकता है। उसकी इज्जत पर आंच आ सकती है। किन्तु उसकी आवश्यकता को अनुभव करके, ब्याज की दरें और ज्यादा बढ़ जाती हैं। इसका स्पष्ट अभिप्राय यही है कि शक्तिशाली हाथी पर तो भार कम लादा जाता है और अशक्त खरगोश पर ज्यादा-से-ज्यादा भार लाद दिया जाता है। समाज की कुरीतियों के कारण भी अनेक चीजें बुराई बन जाती हैं। श्रीमंत की अपेक्षा गरीब से दुगुना और तिगुना ब्याज लेना, एक बार रुपया देकर फ़िर शोषण के रूप में ब्याज चालू रखना, इसी तरह की एक सामाजिक बुराई है। पूंजीवादी वर्ग की अर्थ-लिप्सा ने ही इस ब्याज के रोग को प्रेरित किया। साहूकार एक बार रुपया दे देता है और फिर इतना शोषण करता है कि मूल रकम तो सदैव बनी रहती है और कर्जदार वर्षों तक ब्याज में फंसा रहता है। ब्याज के रूप में किसी गरीब कर्जदार के रक्त को चूसना कितनी बड़ी हिंसा है, इसकी सहज़ कल्पना की जा सकती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाय को पालने वाला केवल गाय के गोबर से संतोष नहीं कर सकता। उसे गाय का दूध प्राप्त करने का अधिकार है। परन्तु गाय को दुहते-दुहते जब दूध न रहे तो उसका रक्त दुहना तो अनैतिकता ही है। यह तो इन्सानियत से कोसों दूर की बात है। इसके अलावा गाय के दूध पर केवल मनुष्य का ही तो अधिकार नहीं। उस बेचारे बछड़े का भी तो कुछ हक है! हालांकि प्रत्येक ग्वाला अपना कर्त्तव्य समझता है कि गाय दुहते समय पीछे बछड़े को पीने के लिए दूध छोड़ दे। यही उदार वृत्ति ब्याज के सम्बन्ध में भी होनी चाहिए। जब आप किसी को रुपया दें, तो न्याय-प्राप्त मूल-धन वापिस ले सकते हैं। परन्तु उस पर अनर्गल ब्याज खाते रहना और बराबर ब्याज का ही धन्धा करना तो सर्वथा पुरुषार्थहीनता और अनैतिकता ही है। यह निश्चित बात है कि ब्याज की दरें चाहे जितनी ऊंची हों, जरूरतमंद आदमी रुपया लेने को तैयार हो ही जायेगा; क्योंकि वह मजबूर होता है। चारों ओर की विषम परिस्थिति उसे घेरे रहती है। पर जब वह रुपया जमा नहीं कर पाता तब सूदखोर साहूकार उसका घर, उसकी जमीन और उसका सामान तक नीलाम करा देता है। इस तरह ब्याज के कारण गाँव-के-गांव बरबाद होते देखे गये हैं।

रुपया देने के साथ मानवीय उदारता तथा प्रेम भी दिया जाना चाहिए। जिसे आप कर्ज दे रहे हैं, वह आपके ही इस विशाल मानव-परिवार का सदस्य है। इस नाते वह आपका अभिन्न अंग है। जैसे आपको अपने परिवार की चिंता रहती है, वैसे ही उसकी भी आपको चिन्ता रहनी चाहिए और वह व्यक्ति जिन परिस्थितियों में और जिन उलझनों में आज कष्ट उठा रहा है, वह परिस्थितियां कैसे दूर हों और वे उलझनें कैसे सुलझें, इस सम्बन्ध में आपको बराबर ध्यान देना चाहिए। रायचन्द भाई एक बड़े दार्शनिक और योगी पुरुष हो गये हैं। गांधी जी ने भी रायचन्द भाई से प्रेरणा प्राप्त की,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

थी। रायचन्द भाई पहले बम्बई में जवाहरात का व्यापार करते थे। उन्होंने एक व्यापारी से सौदा किया कि इतना जवाहरात अमुक भाव में अमुक तिथि पर देना। इसके लिए जो पेशगी रकम देनी पड़ती है, वह भी दे दी गयी। परन्तु किसी कारणवश जवाहरात का भाव चढ़ने लगा और इतना चढ़ गया कि बाजार में उथल-पुथल मच गयी। नियत तिथि पर व्यापारी से अगर नियत जवाहरात ले लिया जाता तो उसका घर तक नीलाम हो जाता। पर रायचन्द भाई उस व्यापारी के यहां पहुंचे और कहा कि आप किसी भी तरह परेशान न हों। आप इस लिखा-पढ़ी के कारण परेशान हो रहे होंगे। मैं नहीं चाहता कि इस कागज के पुर्जे के कारण आपके और मेरे बीच जो बन्धुत्व का सम्बन्ध है, वह टूटे। ऐसा कहते-कहते ही रायचन्द भाई ने उस इकरारनामे के टुकड़े-टुकड़े कर दिये और बोले, रायचन्द दूध पी सकता है, खून नहीं। हमारा वायदा जब हुआ था तब से अब परिस्थिति बदल गयी है और मेरा तुम पर चालीस-पचास हजार रुपया लेना हो गया है। मैं तुम्हारी परिस्थितियों से अनभिज्ञ नहीं हूं। यदि यह रुपया मैं लूंगा, तो तुम्हारी क्या स्थिति होगी यह मैं जानता हूं। इतना सुनते ही वह व्यापारी गद्‌गद् हो गया और उनके चरणों में गिर पड़ा। उसने कहा, आप मानव नहीं, देवता हैं।

खिलवाड़

●

इसके अलावा और भी शोषण के कई प्रकार हैं। खेत पर जमीन का मालिक जमींदार अपने मजदूरों से कड़ी धूप में कसकर काम लेता है। परन्तु जब मजदूरी देने का समय आता है, तब उसके हाथ ढीले पड़ जाते हैं और वह घुड़कियां दिखाने लगता है। इसी तरह मिल के मजदूरों की भी दयनीय हालत होती है। जब कि मजदूर अपनी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मेहनत से मिल को खड़ी करते हैं और नित्य माल पैदा करके अपने मालिक की तिजोरी को भरते हैं। किन्तु उन मजदूरों की दीन हालत पर मिल के मालिक कभी भी गौर नहीं करते। एक तरफ मिल की ऊंची चिमनियों से धुंआ उड़ता रहता है और दूसरी तरफ मजदूरों के घर में चूल्हा तक नहीं जलता। एक तरफ मालिक ऊंची अट्टालिकाओं में आनन्द-विलास कर रहा होता है और दूसरी तरफ उसी के मजदूर फटे चिथड़ों में और गन्दी वस्तियों में अपनी मुसीवत की जिंदगी काटते रहते हैं। यह परिस्थिति एक या दो जगह नहीं है, बल्कि सर्वत्र दिखाई पड़ती है। अहिंसा-अहिंसा की बात करने वाले और अहिंसा-अहिंसा का नारा लगाने वाले भी इस सूक्ष्म हिंसा के महत्त्व को विल्कुल नहीं समझ पाते और मानवता के साथ सदा खिलवाड़ करते रहते हैं। जब तक समाज में छोटों और वड़ों के बीच, मालिकों और मजदूरों के वीच, गरीबों और अमीरों के वीच आज के से सम्वन्ध रहेंगे, तव तक यह समाज न तो सुखी हो सकता है और न समृद्ध हो सकता है। ताज्जुव नहीं कि एक दिन ये मजदूर अपने अभाव से असंतुष्ट होकर बगावत कर बैठें और समाज में चारों ओर विद्रोह भरी क्रांति की आग लगा दें। यदि ऐसी रक्त-क्रांति का अवसर लाना ही हो, तव तो कुछ कहने की बात है ही नहीं। किन्तु यदि इस रक्त-क्रांति के काले बादलों को हटा देना है, तो आजके मालिकों, अमीरों और ऊंचे कहे जाने वाले लोगों का कर्तव्य है कि वे इन शोषण के तरीकों को छोड़कर, व्यक्तिगत स्वामित्व के स्थान पर सामाजिकता को प्रश्रय दें और मजदूरों तथा सर्वहारा वर्ग के मेहनतकश लोगों को भी जीने का, पढ़ने का, खाने का और रहने का सुविधापूर्ण अवसर दें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रोटी का सवाल

धर्म का उपदेश बहुत प्राचीन काल से दिया जाता रहा है। फिर भी आज तक उसका पूर्णतः अमल नहीं हो सका। आखिर इसका कारण क्या है? हमें यह सोचना होगा कि वह धर्म केवल आदर्शवादी भी है या यथार्थवादी भी है? वह आदर्शों के सुनील आकाश में ही उड़ता है, या जीवन-व्यवहार की सत्य भूमि पर भी कभी उतरता है?

अनेक बार हम देखते हैं कि आदर्श, आदर्श ही बनकर रह जाते हैं ऊंचाइयाँ, ऊंचाइयाँ ही बनी रहती हैं। वे जीवन की गहराइयों को और उसकी समस्याओं को हल करने वाली वास्तविक भूमिका पर नहीं उतरतीं। कुछ सिद्धान्त ऐसे होते हैं, जो प्रारम्भ में तो बहुत ऊंची उड़ान भरते हैं और आकाश में उड़ते दिखलाई देते हैं, किन्तु अन्ततः व्यावहारिक जीवन के धरातल पर नहीं उतरते, क्योंकि उनमें जनता की समस्याओं का उचित समाधान करने की क्षमता नहीं होती।

कुछ सिद्धान्त यथार्थवादी होते हैं। वे जनता की आवश्यकताओं का, समस्याओं का सीधे ढंग से समाधान करते हैं। बच्चों, बूढ़ों, युवकों और महिलाओं की क्या समस्याएं हैं? भूखी-नंगी जनता की क्या समस्याएं हैं? इन सब पर गहराई में उतर कर विचार करना ही उनकी सैद्धान्तिक यथार्थता का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य है।

हां, तो समाज फिर किस पृष्ठ-भूमि पर टिकेगा? वह कोरे कथोपकथन और कागजी आदर्शवाद पर जीवित नहीं रह सकता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जब इसे व्यावहारिक यथार्थवाद मिलेगा, तभी जिन्दा रहेगा। इस सम्बन्ध में एक आचार्य ने कहा भी है :

"बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते,
पिपासितैः काव्यरसो न पीयते।"

अर्थात् एक आदमी भूखा है। ऐसी स्थिति में व्याकरण के महत्त्व-पूर्ण सिद्धान्तों से उसका पेट नहीं भरेगा। काव्य का रस बड़ा मीठा है। जब कविता पाठ होता हैं तो लोग मंत्र-मुग्ध होकर जम जाते हैं और घंटों तक जमे रहते हैं, अमृत-पान जैसा आनन्द भी अनुभव करते हैं। किन्तु प्यास से व्याकुल यदि कोई प्यासा, वहां आये और पानी मांगे; किन्तु उससे यह कहा जाय कि—"भाई, यहाँ पानी नहीं है। यहां काव्य है, जो कि बहुत ही मधुर है, उसमें अमृत जैसा मधुर रस है। इसी को पीकर अपनी प्यास बुझा लो।" तो क्या पानी के प्यासे की प्यास, काव्य-रस से बुझ सकेगी ? क्या, वह काव्य का रस पी भी सकेगा ?

इसलिए व्यावहारिक जीवन के सम्बन्ध में यथार्थवादी आचार्य कहते हैं कि जीवन-व्यापार की समस्याएं न तो अलंकारों से सुलझ सकती हैं, न साहित्य से और न कविताओं से ही। उन्हें सुलझाने के लिए तो कोई दूसरा ही सही हल खोजना पड़ेगा।

दो-चार दिन का भूखा एक आदमी आपके सामने आता है। वह आपसे चार कौर भोजन पाने की इच्छा रखता है। पर आप उससे कहते हैं—"भाई, इस समय धर्म का भोजन तो तैयार है। दो दिन हो गये हैं तो दो दिनका उपवास और कर लो। अरे, रोटियों में क्या रखा है ? अभी फिर भूख लग जायेगी। अनादिकाल से खाते आ रहे हो, और अनंत सुमेरु पर्वतों के बराबर रोटियों के ढेर खा चुके हो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

फिर भी तुम्हारी भूख नहीं मिटी तो अब चार कौर से क्या मिटने वाली है ? छोड़ो, इस रोटी को। अब धर्म की रोटी ले लो, जिससे इस लोक की भी भूख बुझेगी और परलोक की भी भूख बुझ जायेगी।"

धर्म का मजाक

आप ही कहिए, क्या सच्चे धर्म की यही व्याख्या है ? यह धर्म का उपदेश है या उसका मज़ाक ? यह एक ऐसा विचार है, जिससे जनता के मन को साधा नहीं जा सकता, बल्कि उसके हृदय में कांटा चुभाया जाता है। क्या मानव-जीवन इस तरह चल सकेगा ?

इस प्रकार का कोरा आदर्शवादी दृष्टिकोण वास्तविक नहीं है। वह जीवन की मूलभूत और ठोस समस्याओं के साथ निष्ठुर उपहास करता है, वह, मर जाने के बाद तो स्वर्ग की बात कहता है, किन्तु जीवित रहकर इस संसार को स्वर्ग बनाने की बात कभी नहीं कहता। मरने के पश्चात् स्वर्ग में पहुंचने पर ६४ मन का मोती मिलने की बात तो कहता है, परन्तु जिन्दा रहने के लिए अन्न के दो दाने पाने की राह नहीं दिखलाता। वह स्वर्ग का ढिंढोरा तो पीट सकता है, किन्तु जिस मृत-प्राय प्राणी के सामने ढिंढोरा पीटा जा रहा है, उसे जीवित रहने के लिए जीवन की कला नहीं सिखलाता। इस प्रकार का हवाई दृष्टिकोण अपनाने वाला धर्म, चाहे, वह कोई भी हो, जनता के काम का नहीं है। आज की दुनिया को ऐसे निस्सार धर्म की आवश्यकता भी नहीं है।

जिस दुकान में उधार बिक्री का ही व्यापार चलता हो और नकद बिक्री की बात ही न हो, क्या वह दुकान अपने को स्थिर रख सकेगी ? इसी तरह जो धर्म, परलोक के रूप में केवल उधार की ही बात करता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है और कहता है कि उपवास करोगे, तो स्वर्ग मिल जायेगा। धर्म-ग्रंथों का अध्ययन और तदनुसार कठोर क्रियाकाण्ड करोगे तो स्वर्ग मिल जायेगा। तीर्थस्थानों का पर्यटन करोगे तो स्वर्ग मिल जायेगा। किसी से कलह-संघर्ष आदि नहीं करोगे तो मरने के बाद अमुक राज्य का वैभव-रूप फल पा जाओगे। परन्तु जो धर्म यह नहीं बतलाता है कि आप या हम; जो काम कर रहे हैं, उनका यहां क्या फल मिलेगा? जो धर्म यह नहीं बता सकता कि वर्तमान कर्तव्य का पालन करोगे, तो स्वर्ग यहीं पर और इस जीवन में ही उतर आएगा, जिससे तुम्हारा समाज, परिवार और राष्ट्र स्वयं ही स्वर्ग बन जायेगा। फिर उस सारहीन धर्म का साधारण जनता क्या उपयोग करे?

सचाई तो यह है कि स्वर्ग में वे प्राणी ही जायेंगे, जिन्होंने अपने सत्कर्म और सदाचार के द्वारा यहीं पर स्वर्ग बना लिया है। जो यहां पर स्वर्ग नहीं बना पाये हैं, और जो यहां पर घृणा, भुखमरी और हाहाकार का नारकीय जीवन व्यतीत कर रहे हैं, उन्हें किसी धर्म के द्वारा यदि कभी स्वर्ग मिला भी, तो वह रोते-रोते ही मिलेगा। हंसते-हंसते कभी नहीं मिलने का।

आज से नहीं, चिरकाल से धर्म की लम्बी चौड़ी व्याख्याएं सुनी जा रही हैं, परन्तु वे केवल सुनने के लिए सुनी जा रही हैं, उन पर गंभीरता-पूर्वक चिन्तन मनन नहीं किया गया है। इसलिए धर्म को बदनाम होना पड़ा है और अपने को धार्मिक कहने और समझने वाले आज के धार्मिकों की आचार-विहीनता तथा विवेक-शून्यता के कुपरिणामस्वरूप धर्म के उज्ज्वल मुंह पर कालिख लग गई है।

यदि आप आज भी यही सोचते हैं, अजी, क्या है संसार तो यों ही चलता रहेगा। लोग भूखे मरें तो क्या? खाने को मिले तो खाओ,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और यदि नहीं मिले तो भूखे पड़े रहो परन्तु ज्यों ही खाने के लिए काम किया या अन्न पैदा किया तो कर्मों का बंध हो जायेगा। इस प्रकार खाने-पीने की बातों में आत्मा का कल्याण नहीं होता है। ये सब संसार की कपोल-कल्पित बातें हैं और संसार की बातों से हमारा संबंध ही क्या है ? जो संसार का मार्ग है, वह बंधन का ही मार्ग है, एक प्रकार से नरक का ही रास्ता है, तो यह सोचना गलत है।

आपको यह भी जानना चाहिए कि जीवन में पेट की समस्या ही बड़ी समस्या है। जब कभी आपको भूख लगे और भोजन के लिए अन्न का एक कण भी न मिले, तब चिन्तन की गहराई में जाइये। उस समय पता लगेगा कि भूखों की शोचनीय अवस्था होती है ? उस समय धर्म-कर्म की मरहम पट्टी काम देती है या नहीं ? जब मनुष्य भूख की पीड़ा से व्याकुल होता है, आंखों के आगे अंधेरा छा जाता है और मृत्यु का नंगा नाच होने लगता है, उस हालत में समता या दृढ़ता का मरहम लगाने वाला सौ में से एक भी शायद ही निकले, अन्यथा सभी घायल होकर सहज में अकाल मृत्यु की भेंट चढ़ जाते हैं।

जैन-शास्त्रों में जो बाईस परीषह आये हैं, उनमें पहला परीषह क्षुधा का है। शेष ताड़न या वध आदि क्रूर परीषहों का नम्बर बहुत दूर आता है। स्थूल हिंसा के रूप में सोचने का जो ढंग हमें मिला हुआ है, या हमने जो ढंग अपना रखा है, उसके अनुसार तो सबसे पहला परीषह वध-परीषह होना चाहिए था। कोई किसी को मार दे या वध करदे, तो उसके बराबर तो क्षुधा-परीषह नहीं है। फिर वध को पहला परीषह न गिनकर भूख का ही परीषह क्यों गिना है ? स्पष्ट है कि मानव-जीवन के प्रारम्भ से ही क्षुधा को वध से भी अधिक भयंकर माना गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आज भी हजारों आदमी ऐसे मिलेंगे, जो भूख से बुरी तरह छटपटा रहे हैं। वे चाहते हैं कि भूख की ज्वाला में तिल-तिल करके भस्म होने की अपेक्षा यदि उन्हें कत्ल कर दिया जाय तो अधिक अच्छा हो। घुट-घुटकर रोज-रोज मरने, और एक-एक प्राण छिटका-कर नष्ट होने के बजाय एक साथ मर जाना, वे कहीं ज्यादा ठीक समझते हैं। वध और क्षुधा परीषह, दोनों में से एक को चुनने का कहा जाय तो वे लोग वध को मंजूर करेंगे। कई लोग रेलों के नीचे कट-कर या कूप-तालाब में गिरकर इसीलिए मरते हैं कि उनसे अपनी, और अपने बाल-बच्चों की भूख की पीड़ा नहीं सही जा सकती। वे भूख की वेदना से छुटकारा पाने के लिए ही मरने की वेदना को सहसा स्वीकार कर लेते हैं।

"खुहासमा नत्थि सरीरवेयणा।"

अर्थात्—भूख की पीड़ा के समान और कोई पीड़ा नहीं है।

मैं समझता हूं कि आप इस तथ्य को जल्दी अनुभव नहीं कर सकते हैं, क्योंकि आपकी स्थिति दूसरे प्रकार की है। कोई भी व्यक्ति जब तक सुख और समृद्धि की स्थिति में रहता है, तब तक वह दुःख की भयंकर स्थिति का ठीक-ठीक अनुभव नहीं कर सकता। किन्तु कुछ ही समय पहले की बात है कि आपके भारत में ही दुष्काल में लोग जब भूख से छटपटाते हुए मर रहे थे, तो अपने प्राणों से भी अधिक प्यारे बच्चों को दो-दो रुपये में बेचते हुए नहीं हिचकते थे और दो रोटियों के पीछे स्त्रियां भी अपने सतीत्व को नष्ट कर देती थीं। इस प्रमाण से आप समझ सकते हैं कि भूख के पीछे दुनिया के भारी-से-भारी दुष्कृत्य और पाप किये जाते हैं। जब भूख लगती है तो मनुष्य उसकी तृप्ति के लिए क्या नहीं कर गुजरता ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"बुभुक्षितः किं न करोति पापम् ?

अर्थात्—"दुनिया में वह कौन-सा पाप है, जो भूखा नहीं करता है ?" धोखा वह देता है, ठगी वह करता है, वह सभी कुछ करता है। और तो क्या, माता और बहिनें अपनी पवित्रता तक को बेच देती हैं ! किसलिए ? केवल रोटी के लिए।

राक्षसी

●

भूख, वास्तव में एक भयानक राक्षसी है। वह मनुष्य को नृशंस और क्रूर बना देती जब वह अपने पूरे जोश में होती है और उसे तृप्त करने के लिए दो रोटी भी नहीं मिल पाती है, तो पति और पत्नी तक के सम्बन्ध का भी पता नहीं लगता है। और तो क्या, स्नेहशील माता-पिता भी अपने प्राण-प्यारे बच्चे के हाथ की रोटी छीनकर खा जाते हैं।

"बुभुक्षितं न प्रतिभाति किंचित्।"

अर्थात्—"भूख के मारे को कुछ भी नहीं सूझता है।" निरन्तर की भूख ने उसकी ज्ञान-शक्ति को नष्ट कर दिया है।

वह कौन-सी चीज थी ? जिसने मेवाड़ के ही नहीं, वरन् समूचे भारत के गौरवस्वरूप महाराणा प्रताप को भी एक बार अपनी स्वाधीनता की साधना के पथ से विचलित कर दिया था ? अपने बच्चों की भूख को सहन न कर सकने के कारण ही तो वे अकबर से सन्धि कर अपनी प्यारी जन्म-भूमि की स्वतन्त्रता को खो देने के लिए विवश हो गये थे। जब प्रताप जैसे दृढ़-प्रतिज्ञ और कष्ट सहिष्णु व्यक्ति भी भूख के प्रकोप से अपने सुदृढ़ संकल्पों से गिरने लगते हैं और ऐसा काम करने के लिए तत्पर हो जाते हैं, जिसकी स्वप्न में भी वे स्वयं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कल्पना नहीं कर सकते थे, तो आज के साधारण आदमियों का तो कहना ही क्या है? आजकल तो एक दिन का उपवास भी दैवी प्रकोप जैसा अनुभव किया जाता है।

कृषि

●

जीवन में भूख की समस्या को आसानी से हल करने वाली एक चीज है—कृषि, अर्थात् खेती। कृषि से जो उत्पादन होता है, उसी से बहुत से पापों को, जो भयंकर भूख के दरवाजे से सर्व साधारण की आत्मा में प्रवेश करते हैं, रोका जा सकता है। उन विभिन्न-महा-पापों को रोकने के लिए अतीत काल में भगवान् ऋषभदेव आदि ऋषियों ने तो कृषि आदि के रूप में अथक प्रयत्न किये हैं, किन्तु खेद के साथ कहना होगा कि उनमें कुछ लोग महापाप और महान् आरम्भ की छाया देखते हैं। अपनी जीवन रक्षा के लिए तो अन्न खाएंगे, किन्तु जिस अन्न पर जन-जीवन निर्भर है, उसके उत्पन्न करने वाले को महापापी कहेंगे। जो अन्न-उत्पादन का कार्य कर रहे हैं, जब उन्हें महारम्भी-महापापी और उसके फलस्वरूप नरकगामी कहा जाता है, तो किसी भी सहृदय का मन तिलमिला उठता है और हृदय टूक-टूक हो जाता है।

हमारे शास्त्र कुछ कहते हैं, हमारी प्राचीन परम्परा कुछ कहती है, किन्तु आज हम दूसरा ही राग आलापते हैं। जैन-संस्कृति समाज को कहां ले जाना चाहती है, किन्तु कुछ लोग उसे समझे बिना कहीं अन्यत्र ही भटक रहे हैं। जनहीन मैदान में भटकने वाले यात्री की-सी दुर्दशा आज हमारी हो रही है।

हमारे आज के विचारों की बात जाने दीजिये। मैं आपसे पूछता हूं कि भगवान् ऋषभदेव ने क्या किया था? क्या उन्होंने उस समय के लोगों को महापाप और महान् आरम्भ का रास्ता बतलाया था?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आप कहेंगे कि तब वे भगवान् नहीं बने थे। किन्तु क्या आप यह नहीं जानते कि उन्हें मति, श्रुत और अवधि ये तीन प्रकार के निर्मल ज्ञान प्राप्त थे। उनका अवधिज्ञान लूला-लंगड़ा या भूला-भटका, अर्थात् विभंग ज्ञान नहीं था। वह विशुद्ध ज्ञान था। उस स्थिति में भगवान् ने जो कुछ भी किया, वह सब क्या था ?

प्रागैतिहासिक काल के युगलियों की जनता को खाना तो जरूरी था ही, पर काम नहीं करना था। सर्दी से बचने के लिए कपड़ा या मकान कुछ भी चाहिए, जो आवश्यक ही था, किन्तु वस्त्र या मकान नहीं बनाना था। जीवन तो जीवन की तरह ही बिताना था, परन्तु पुरुषार्थ की आवश्यकता समझ में नहीं आयी थी। इसी स्थिति में चलते-चलते युगलिया-जन भगवान् ऋषभदेव के युग में आ गये। इस युग में कल्पवृक्षों के कम हो जाने से आवश्यकताओं की पूर्ति में गड़बड़ होने लगी, फलस्वरूप जनता भूख से आकुल हो उठी। पेट में भूख की आग सुलगने लगी और तत्कालीन जनता उसमें भस्म होने लगी। उसे देखकर भगवान् के हृदय में अपार करुणा का झरना बह उठा और उन्होंने जनता की भूख की सुलगती समस्या को शांत किया। इसी सम्बन्ध में आचार्य समन्तभद्र ने कहा है

"प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः
शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।"

—बृहत्स्वयंभूस्तोत्र

हां, तो भगवान् के कोमल हृदय में अपार करुणा का झरना बहा और उन्होंने देखा कि यह सारी जनता भूख की ज्वाला से पीड़ित होकर खत्म हो जायेगी, आपस में लड़-लड़कर मर जायेगी, खून की धाराएं बहने लगेंगी; तो भगवान् ने उस अकर्मण्य प्रजा को कर्म की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और पुरुषार्थ की नव-चेतना दी तथा अपने हाथों-पैरों से काम लेना सिखलाया। कर्तव्य-विमूढ़ प्रजा को कर्मभूमि में अवतरित किया और भूखमरी की समस्या को अपने हाथों सुलझाने की सही दिशा दिखलाई। दूसरे शब्दों में कहें तो कृषि-कर्म करना सिखलाया।

अन्न का दाना और तन का कपड़ा—दोनों कृषि से प्राप्त होते हैं। जिन्दगी की प्रमुख आवश्यकताएं केवल दो ही हैं। अन्न और कपड़ा। जनता के कोलाहल में यही ध्वनि फूटती है कि "रोटी और कपड़ा चाहिए।" फ्रांस का सम्राट् लुई महलों में आनन्द कर रहा था और हजारों की संख्या में प्रजा-जन भूख से छटपटाते नीचे से आवाज लगाते हुए गुजरे कि—"रोटी दो या गद्दी छोड़ो।"

यह आवाज सुनकर सम्राट् ने पास में बैठे हुए महामंत्री से पूछा, क्या जनता ने बगावत कर दी है ? महामंत्री ने कहा—"यह बगावत नहीं, क्रांति है।" और महामंत्री के मुंह से निकले हुए "शब्द" सारे संसार में फैल गये कि "भूख से बगावत नहीं, इन्किलाब होता है।"

हां, तो भगवान् ऋषभदेव तत्कालीन भूखी जनता को देखकर कोरे आदर्शवाद में नहीं रहे, न उन सब भूखों को उपवास का उपदेश ही दिया, और न साधु बन जाने या संथारा करने की सलाह ही दी।

यथार्थवादी होने के नाते उन्होंने सोचा कि जनता को यदि सही रास्ते पर नहीं ले जाया गया, तो वह महा-आरम्भ के रास्ते पर चली जायेगी और मांसाहार के पथ पर चलकर घोर हिंसक हो जायेगी। एक बार यदि महा-हिंसा के पथ पर चल पड़ी तो फिर उसे मोड़ना मुश्किल हो जायेगा। अतएव उन्होंने भूख के कारण महा-आरंभ की ओर जाती हुई भोली-भाली जनता को अल्प-हिंसा की ओर लाने का प्रयत्न किया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आर्यत्व

●

जहां-जहां कृषि की परम्परा चली और अन्न का उत्पादन हुआ, वहां-वहां आर्यत्व बना रहा और महारंभ न होकर अल्पारंभ का प्रचलन हुआ। परन्तु जहां कृषि की परंपरा नहीं चली, वहां के भूखे मरते लोग क्या करते? तब आपस में वैर जगा, और क्षुधाजन्य क्रूरता के कारण पशुओं को मारकर खाने की प्रवृत्ति चालू हो गई। तात्पर्य यही है कि—"कृषि" अहिंसा का उज्ज्वल प्रतीक है। जहां भी कृषि अग्रसर हुई है, वहां के जन-जीवन में उसने अहिंसा के बीज डाले हैं। और जहां कृषि है, वहां पशुओं की जरूरत भी अनिवार्यतः रहती है, फलतः उनका पालन भी स्वाभाविक है। इस प्रकार कृषि अहिंसा के पथ का विकास करती रही है। कृषि के द्वारा प्रवाहित होने वाली अहिंसा की धारा मनुष्यों के अतिरिक्त पशुओं की ओर भी बही है। इस प्रकार जहां-जहां खेती गई है, वहां-वहां वह अहिंसा के सिद्धान्त को लेकर गई और जहां कृषि नहीं गई, वहां अहिंसा का सिद्धान्त भी नहीं पहुंचा।

मेक्सिको के निवासी मछली आदि के शिकार के सिवाय कोई दूसरा काम-धन्धा नहीं कर पाते हैं। कल्पना कीजिये—यदि कोई जैन सज्जन वहां पहुंच जाये, तो देखेगा कि लोगों के हाथ रात-दिन खून से किस तरह रंगे रहते हैं, क्योंकि जानवरों का मांस चमड़ा, चर्बी आदि का उपयोग किये बिना उनके लिए कोई दूसरा साधन ही नहीं है। ऐसी स्थिति में यदि वह जैन उन्हें जैन-धर्म का कुछ सन्देश देना चाहे, उस हिंसा को रोकना चाहे और यह कहे कि—मछली, हिरन, सूअर वगैरह किसी जीव को मत मारो, तो वे लोग क्या कहेंगे? तब वे उससे पूछेंगे कि फिर हम खाएं क्या? और जब यह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रश्न सामने आएगा, तो वह क्या उत्तर देगा ? कल्पना कीजिए, यदि आप स्वयं वहां पहुंच गये हों तो क्या उत्तर देंगे ? यदि आप उन्हें अहिंसक बनाना चाहते हैं तो क्या उपाय करेंगे ? क्या आप उन्हें सदा के लिए आमरण संथारे के रूप में "वोसिरे-वोसिरे" करा देंगे ? यदि नहीं, तो वे भूखे जीवित रहकर क्या करेंगे ? क्या खाएंगे ? तब यह प्रश्न कैसे हल होगा ? यदि जीवन के लिए कोई समुचित व्यवस्था नहीं करेंगे तो आप पागल बनकर ही लौटेंगे।

अपने अहिंसात्मक अमूल्य महत्त्व के नाते कृषि कितनी सुन्दर चीज है। फिर भी अनेक व्यक्ति कृषि को भी महारंभ कहते हैं, जब कि कृषि "अहिंसा" का आदर्श लेकर चली है। उसने मानव-जाति को क्रूर वन्य पशु होने से रोका है, वनवासी होने से बचाया है और उसमें आदर्श नागरिकता के बीज डाले हैं। उससे मनुष्य की सामाजिक उन्नति हुई है और जहाँ कृषि नहीं फैली, वहां के लोग घोर हिंसक, मांस-भक्षी और नरमांस-भक्षी तक, बन गये हैं।

स्थानांग आदि शास्त्रों में नौ प्रकार के विभिन्न पुण्यों का वर्णन है। उनमें भी सबसे पहले "अन्न-पुण्य" बतलाया गया है और नमस्कार-पुण्य का सबसे आखिर में डाल दिया गया है; क्योंकि जब पहले अन्न पेट में पड़े, तो पीछे नमस्कार करने की सूझे। जब पेट में अन्न ही नहीं होता और उसके लिए हृदय तड़फता रहता है, तो कौन किसको नमस्कार करता है ?

अतः पुण्य-साधना के द्वार पर सब से पहले अन्न-पुण्य ही खड़ा है, और दूसरे सब पुण्य उसके पीछे चले आ रहे हैं। तब अन्न के उत्पादन को ही महारंभ और नरक का मार्ग बताना, बुद्धि का विकार नहीं तो और क्या है ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्याज्य नहीं

वैदिक-धर्म के उपनिषदों और पुराणों का मैंने अध्ययन किया है। उपनिषद् कहते हैं—"अन्नं वै प्राणाः" अर्थात् "अन्न प्राण है।" इस सम्बन्ध में सुविख्यात सन्त नरसी मेहता ने भी कहा है—

"भूखे भजन न होहि गोपाला,
यह लो अपनी कंठी माला।"

कोई भूखा रहकर यदि माला पकड़ेगा भी, तो कब तक पकड़े रहेगा ? भूख के प्रकोप से वह तो हाथ से छूटकर ही रहेगी। इसीलिए सन्त नरसी ने ठीक ही कहा है कि—गोपाल, अब भूखे से भजन नहीं होगा ! लो, यह अपनी कंठी और लो, यह माला भी सम्हालो। अब तो रोटी की माला जपूंगा और सब से पहले उसी के लिए प्रयत्न करूंगा।

इस प्रकार वैदिक-धर्म "अन्न को प्राण" कहता है और जैन-धर्म अन्न के दान को 'सब से बड़ा दान" सर्व प्रथम दान मानता है और भूख के परीषह की पूर्ति को पहला स्थान बतलाता है। इस तरह से एक-से-एक कड़ियां जुड़ी हुई हैं। इस अन्न की प्राप्ति कृषि से ही होती है, और इसी कारण भगवान् ऋषभदेव ने युग की आदि में जनता को कृषि-कर्म सिखाया और बताया। जैन-शास्त्रों में कहीं भी जन-साधारण के लिए कृषि को त्याज्य नहीं कहा गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्न का महत्त्व

शरीर को चलाने लिए रोटी अनिवार्य है। और रोटी यानी अन्न न हो तो मानव-जीवन नहीं रह सकता। अगर आत्मा और शरीर साथ-साथ रह सकते हैं, तो रोटी के साथ अहिंसा का भी संबंध रह सकता है। रोटी और अहिंसा आपस में विरोधी चीज नहीं है। इन दोनों में सामंजस्य रह सकता है। यदि ये दोनों साथ-साथ नहीं रह सकते तो या तो हमें अहिंसा यानी आत्मा की खुराक से वंचित रहना पड़ेगा या हमें शरीर की खुराक से यानी रोटी से वंचित रहना पड़ेगा। दोनों ही स्थितियों में जीवन असंभव है। आत्मा और शरीर के सहवास से ही जीवन संभव है। इसलिए हमें कोई ऐसा रास्ता निकालना ही होगा जिससे अहिंसा और रोटी दोनों का सह-अस्तित्व संभव हो सके।

वर्तमान जीवन का आधार रोटी है, यह तो निश्चित ही है। किन्तु रोटी कैसी चाहिए, किस रूप में चाहिए और वह कहां से आनी चाहिए, ये प्रश्न महत्त्व के हैं। यदि रोटी प्राप्त करने के लिए हम महा-हिंसा या महा-आरंभ करते हैं तो वह रोटी असद् रोटी यानी हिंसामय रोटी होगी और उसका ग्रहण हिंसा को प्रोत्साहित करने वाला होगा। अगर मर्यादित ढंग से, सात्विक प्रयत्न से और सम्यक् आजीविका से रोटी प्राप्त हुई है, तो वह हिंसा से अहिंसा की ओर बढ़ने के लिए सहायक बन सकेगी।

रोटी कमाने के आज अनेक साधन हैं। झूठ, छीना झपटी, लूट-मार और शोषण के अनेक ऐसे तरीके हैं जिनके माध्यम से रोटी प्राप्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की जाती है। जिस रोटी के पीछे शोषण और अनैतिकता है, वह रोटी आत्मा की खुराक के साथ यानी अहिंसा के साथ नहीं चल सकती। रोटी अमृत भी है और जहर भी है। यदि वह शुद्ध साधनों से ओर सम्यक् आजीविका द्वारा उपार्जित रोटी है, फिर वह चाहे रूखी-सूखी ही क्यों न हो, अमृत तुल्य है। परन्तु दुनिया भर का सुन्दर भोजन चाहे मिल जाय, पर यदि वह भोजन प्राप्त करने के लिए किसी की हिंसा हुई है, किसी का शोषण हुआ है, या किसी का खून बहाया गया है, तो वह मधुर मिष्टान्न भी जहर के समान ही है।

अनार्य मार्ग

भगवान ऋषभदेव ने कहा है कि अनार्य मार्ग से रोटी पैदा मत करो। जहां दूसरों का खून बहाया जाता है, वह अनार्य मार्ग है। मजदूर का शोषण करना, किसी का हक छीनना, सट्टेबाजी करना, जुआ खेलना आदि सब अनार्य कर्म हैं। इन अनार्य कर्मों के माध्यम से जो रोटी आयेगी, वह अपने साथ पापों की गठरी लेकर आयेगी और जीवन को पतित करेगी।

हमारे यहां "प्रासुक" शब्द की बड़ी चर्चा है "प्रासुक" वे काम कहलाते हैं, जिनमें हिंसा न हो या अत्यल्प हो। दो जुएबाज आमने-सामने बैठे ताश के पत्तों से खेल रहे हैं। हर बाजी की समाप्ति पर हजारों दे रहे हैं और हजारों ले रहे हैं। इसमें स्थूल रूप से देखा जाय तो किसी की हिंसा नहीं होती। परन्तु जुआ खेलना अत्यन्त हीन कार्य, अनार्य मार्ग और एक नीचातिनीच दुर्व्यसन माना गया है' इसलिए "प्रासुक" क्या है इसको भी अच्छी तरह से समझना पड़ेगा। जुआरी का अन्तःकरण कितना क्लेशमय, व्याकुल रहता है और जुए की बदौलत मन की वृत्तियां कितनी दूषित होती हैं, समाज का पुरुषार्थ कितना गिरता है, इन सब चीजों को लक्ष्य में रखकर ही जुआ खेलना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पाप बताया गया है। इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अहिंसा का संबंध जितना मन की वृत्तियों से है, उतना बाह्य उपकरणों से नहीं।

अन्न का कभी भी अनादर नहीं करना चाहिए। उपनिषदों में कहा गया है कि "अन्नं न निंद्यात्" यानी अन्न की अवहेलना और निन्दा नहीं करनी चाहिए। इसीलिए भारतीय संस्कृति में जूठन छोड़ना भी पाप माना गया है; क्योंकि उससे अन्न का अनादर होता है। अन्न का एक एक दाना सोने के दाने से भी ज्यादा महत्त्व का है। सोने के अभाव में कोई मर नहीं सकता, परन्तु अन्न के अभाव में हजारों लाखों ने प्राण दे दिए। परिस्थिति आने पर ही अन्न का महत्त्व मालूम होता है। यदि अन्न न रहा तो वे सभी पलायित हो जायेंगे। इसलिए अन्न के महत्त्व को ठीक तरह से समझना चाहिए और उसके अनुसार जीवन में जो अन्न की समस्या है, उसके समाधान का उपाय निकालना चाहिए।

किसान खेती-बाड़ी का धंधा करता है। कठिन परिश्रम के द्वारा रोटी कमाता है और गरीब होते हुए भी न्याय नीति की मर्यादा में रहता है। दूसरा परिवार कसाई का है। उसके यहां हीरे और जवाहरात के ढेर लगे रहते हैं। वह खूब धनी बनकर आनन्द-उल्लास के साथ जीवन बिताता है। उन दोनों में श्रेष्ठ कौन है? क्या वह, जिसके यहां धन का ढेर लगा हुआ है? या वह जो गरीब है, पर परिश्रमी है और कृषि करता है? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है। धन का महत्त्व नहीं है, अन्न का महत्त्व है। उस कसाई को भी उस किसान के पास आ कर अन्न लेना पड़ेगा। बिना अन्न के वह अपने प्रचुर धन से अपनी भूख नहीं मिटा सकता और अपने जीवन को भी सुरक्षित नहीं रख सकता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दो यात्री चले जा रहे हैं। जंगल में भटक गये। उन दोनों को भूख लगी। भूख के मारे छटपटाते हुए वे चल ही रहे थे कि उन्हें अकस्मात् दो थैले मिल गये। उन दोनों थैलों को वे यात्री आपस में एक-एक बांट लेते हैं। दोनों अपने-अपने थैले को खोलते हैं। एक में भुने हुए चने निकलते हैं और दूसरे में हीरे मोती। इन दोनों यात्रियों में कौन भाग्यशाली है ? क्या वह, जिसे करोड़ का धन मिल गया ? या वह, जिसे भूख बुझाने के लिए भूने हुए चने ही मिले ?

जिस अन्न का इतना महत्त्व है, उसकी निन्दा करना सर्वथा अनुचित है और पाप है। अन्न के उत्पादन को महा पाप बताना, स्वयं ही एक महा पाप है। जिस देश में बच्चों, बूढ़ों, महिलाओं और जवानों को खाना नहीं मिलता, उस देश की व्यवस्था करने वालों के लिए वह एक बड़ा अपराध है। खाने की मात्रा कम मिलना, व्यवस्था को दोषपूर्ण सिद्ध करता है और पाप को प्रगट करता है। अन्न की कमी का पाप अन्य हजारों पापों को पैदा करने वाला है।

पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि जलम्, अन्नं, सुभाषितम्
मूढ़ैः पाषाणखण्डेषु रत्नसंज्ञा विधीयते ॥

इस पृथ्वी पर तीन ही रत्न हैं। जल, अन्न और सुभाषित वाणी। जो मूढ़ हैं, जो अज्ञानी हैं, वे पत्थर के टकड़ों में रत्नों की कल्पना करते हैं।

भारत का यह यथार्थवादी आचार्य अन्न की गणना रत्नों में करता है। उस की दृष्टि में दूसरे सब रत्न पत्थर के टुकड़े हैं, अन्न ही मौलिक रत्न है। उस पर ही सारी सृष्टि का आधार है। यदि खाने को अन्न मिलता है तो धन कमाने के लिए हाथ भी उठेगा और यदि पेट में अन्न नहीं है, तो किसी भी काम के लिए प्रेरणा नहीं मिलेगी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्न की उपेक्षा जीवन की उपेक्षा है। अन्न का अपमान करने वाला राष्ट्र स्वयं अपमानित होने की भूमिका तैयार कर रहा है। जिस देश के लोग अन्न को हीन दृष्टि से देखते हैं उस देश के लोगों को दुनिया भी हीन दृष्टि से देखने लगती है।

खोज करें

●

यह अन्न का महत्त्व है। इसलिए इस के महत्त्व को अस्वीकार न कर अन्न प्राप्त करने में किस तरह हिंसा कम हो और हम किस तरह अहिंसा की ओर बढ़ें, इसकी खोज करनी चाहिए। जिस तरह से आदि युग में मुख्यतः मांसाहार का और शिकार का प्रचलन था, लेकिन विचारशील लोगों ने अनुसन्धान कर के कृषि का आविष्कार किया, उसी तरह अब आगे भी इस की खोज जारी रहनी चाहिए कि अन्न को प्राप्त करने के लिए किस तरह हिंसा को कम किया जाय और अहिंसा की तरफ प्रगति की जाय। आज हमने यह अन्वेषणात्मक दृष्टि छोड़ दी, इसीलिए अनेक भ्रम उत्पन्न हो रहे हैं। कृषि को भी इसीलिए हिंसा, पाप और त्याज्य वस्तु मान लिया गया है। अगर हमारा एप्रोच वैज्ञानिक है, तो हम नित्य नये-नये अनुसंधान करेंगे और अहिंसा की दिशा में बढ़ने के लिए नये-नये मार्ग खोज निकालेंगे।

विज्ञान-युग

●

आज विज्ञान का युग है। मनुष्य प्रकृति पर विजय प्राप्त कर रहा है। पहाड़ों पर, सागरों पर और आकाश पर मनुष्य विजय पर विजय प्राप्त करता जा रहा है। हिमालय की ऊंचाइयों को लांघने में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वह सफल हो गया है। समुद्र की गहराई को मापने में भी वह दक्षता प्राप्त कर चुका है और आकाश की अनंतता को भी आज अपनी भुजाओं में वह बांध लेना चाहता है। ग्रहों और नक्षत्रों पर भी वह अधिकार कर लेना चाहता है। इस तरह से भौतिक क्षेत्र में विविध प्रयोग और विविध अन्वेषण चल रहे हैं। तब आध्यात्मिक क्षेत्र में और अहिंसा के क्षेत्र में मनुष्य ने अपने प्रयोग करना बंद क्यों कर दिया है, यही आश्चर्य की बात है।

वर्तमान समाज की एक सबसे बड़ी ट्रेजेडी यह है कि आज के विचारक धर्माधर्म की मध्यकालीन पुरानी परम्पराओं के आधार को छोड़कर नये सिरे से कोई भी विचार न तो ग्रहण करने को तैयार हैं और न नया चिंतन करने को ही प्रस्तुत हैं। जो हमारे पतन काल की विचारधारा घिसी-पिटी चली आ रही है, उसीकी पकड़ आज भी चल रही है। इसीलिए धर्म 'अपटुडेट' नहीं रहकर 'आउट आफ डेट' बनता जा रहा है। आज के युवकों में और आज के बुद्धिजीवी विचारकों में इस धर्म के प्रति धीरे-धीरे अनास्था और अश्रद्धा होती जा रही है। परन्तु यदि हम लोग नई दृष्टि से, वैज्ञानिक दृष्टि से और तार्किक दृष्टि से धर्म को जीवन का उपयोगी तत्त्व बनायें और मानवता के प्रश्नों पर उदारतापूर्वक सोचें, तो धर्म की उपयोगिता को प्रत्येक व्यक्ति अवश्य स्वीकार करेगा। यही बात अहिंसा और कृषि के सम्बन्ध में लागू होती है। इस सम्बन्ध में हमने नया चिंतन तो किया नहीं और पुराने चिंतन को समझा नहीं, इसलिए सारे भ्रम पैदा हो रहे हैं। अब समय आ गया है कि जब हम उन भ्रमों को दूर करें और तटस्थ दृष्टि से विचार कर के सत्यासत्य का निर्णय करें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अहिंसा की उपलब्धि

हिंसा और अहिंसा का प्रश्न तो इतना जटिल है कि जब तक गहराई में पहुंचकर, हम ठीक-ठीक विचार नहीं कर लेते, तब तक उसकी वास्तविक रूपरेखा हमारे सामने नहीं आ सकती। प्रायः देखा जाता है कि लोग शब्दों को पकड़कर चल पड़ते हैं, फलतः उनके हाथ में किसी तत्त्व का केवल एक खोखा मात्र ही रह जाता है और उसका रस प्रायः निचुड़ जाता है तब उसका कोई मूल्य नहीं होता। वह तो केवल भार है। हिंसा और अहिंसा के सम्बन्ध में भी आजकल यही दृश्य देखा जाता है। प्रायः लोग हिंसा-अहिंसा के शब्दों को ऊपर-ऊपर से पकड़ कर बैठ गये हैं, इस कारण इन शब्दों के भीतर का मर्म उनकी समझ में नहीं आ सका।

यह एक लम्बी चर्चा है। प्रायः लोग जब इस प्रश्न पर विचार करने के लिए शास्त्रों के पन्ने पलटते हैं, तो पहले से ही कुछ संकल्प रखकर चलते हैं और जब इस तरह चलते हैं, तो उनका संकल्प एक ओर टकराता है तथा शास्त्रों की आवाज दूसरी ओर सुनाई देती है। ऐसी स्थिति में प्रायः संकल्प की आवाज सुन ली जाती है और शास्त्रों की आवाज के स्वर दूर जा पड़ते हैं। परन्तु इससे सचाई हाथ नहीं आती है, वास्तविकता का पता नहीं चलता; सिर्फ आत्म-संतोष मात्र हो जाता है। अतएव यह आवश्यक है कि किसी भी तत्त्व पर विचार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करते समय हमारी बुद्धि निष्पक्ष हो क्योंकि तटस्थ बुद्धि से ही सच्चा निर्णय प्राप्त हो सकता है।

पहले हमारी बुद्धि विकसित थी, तो हम आग्रह को, अहंकार को और किसी भी व्यक्ति विशेष को महत्त्व न देकर केवल सत्य को ही महत्त्व देते थे और सत्य की ही पूजा करते थे। जहां सत्य की पूजा होती है, वहां ईश्वर की प्रतिष्ठा है। किसी देवालय में नारियल चढ़ा देना, नैवेद्य चढ़ा देना या मस्तक झुका देना सच्ची ईश्वरोपासना नहीं है, किन्तु मन-वचन-कर्म से सत्य की पूजा करना ही ईश्वर की सच्ची आराधना है।

जो मनुष्य तटस्थ भाव से आगे बढ़ता है और अपने बद्धमूल मान्यताओं के आग्रह को ठुकरा देता है और उसके बदले में सामने आने वाले सत्य के समक्ष नत-मस्तक हो जाता है, वही मर्म को पा सकता है। वही अपने जीवन को कृतार्थ कर सकता है। चाहे वह तरुण हो या बूढ़ा; गृहस्थ हो या साधु; वह अपने आप में बहुत ऊपर उठ सकता है। उसके जीवन की गति ईश्वरीय प्रगति है। वह अपनी महत्ता को अधिकाधिक ऊंचाई पर ले जाता है और गिरावट की तरफ अग्रसर नहीं होता।

इसीलिए हमारे आचार्यों ने यह कहा है कि आप व्यक्ति को महत्त्व क्यों देते हैं? हमारे गुरु ने ऐसा कहा या वैसा कहा, ऐसा कह-कर आप एक ओर तो लाठियां चलाते हैं तथा दूसरी तरफ सत्य, जो तटस्थ भाव से सन्मार्ग का निर्देशन कर रहा है, उसकी पुकार तक नहीं सुनते। इस शोचनीय स्थिति को देखकर दुःख होता है कि यह कैसी गड़बड़ चल रही है। अतएव हमें भली भांति समझ लेना चाहिए कि सत्य का महत्त्व सर्वोपरि है और उसकी तुलना में व्यक्ति का जो महत्व

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, वह केवल सत्य की ही बदौलत है। सम्प्रदाय का, समाज का और व्यक्ति का महत्त्व एक मात्र सत्य के ही पीछे है। सत्य का बड़प्पन ही व्यक्ति को बड़प्पन देता है।

इस सम्बन्ध में जैनाचार्य बहुत बड़ी बात कह गये हैं। आचार्य हरिभद्र बड़े ही बहुश्रुत विद्वान् हो चुके हैं, जिनकी विद्वत्ता को महाकाल की काली छाया भी धुंधला नहीं बना सकी, उनकी अमर वाणी हम आपके सामने रख रहे हैं। वे कहते हैं :

"पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥"

भगवान महावीर के प्रति हमें व्यक्तिगत पक्षपात नहीं है। वे हमारे जाति बिरादरी के नहीं और सगे-सम्बन्धी भी नहीं हैं। तथा कपिल आदि जो अन्य महर्षि हो चुके हैं, उनके प्रति हमें लेशमात्र भी द्वेष और घृणा नहीं है। जो भी सत्य के उपासक आज तक प्रकाश में आये हैं, हम उन सबके विचारों का तटस्थ वृत्ति से अध्ययन करते हैं, उन सबकी वाणी का चिंतन, मनन और विश्लेषण करते हैं। जिसके विचार सत्य की निष्पक्ष कसौटी पर खरे उतरते हैं, युक्तियुक्त लगते हैं, उसी के विचारों को निःशंक भाव से हम स्वीकार करते हैं और उसी का आदर-सम्मान भी करते हैं।

ऐसा मालूम पड़ता है कि आचार्य ने भगवान को भी परीक्षा की तराजू पर रख दिया है। कदाचित् आचार्य उस सत्य को तोल रहे हैं, जो सदियों से और सहस्राब्दियों से बराबर तोला जा रहा है। यदि इस तराजू पर किसी सम्प्रदायविशेष को तोला जाय, तो वह तोल पर पूरा नहीं उतरता है। क्योंकि जितने भी सम्प्रदाय हैं, उनमें प्रायः सत्य की अपेक्षा स्वार्थ की प्रधानता होती है, अतः जहां स्वार्थ की प्रधानता है, वहां सत्य का साक्षात्कार दुर्लभ है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आखिर सोचना चाहिए कि भगवान महावीर की पूजा क्यों की जाती है ? उनका सत्कार और सम्मान क्यों करते हैं ? आखिर, उनमें ऐसा क्या चमत्कार है, जो हम अपने को उनके चरणों में समर्पित करते हैं ? उनके जीवन का जो परम सत्य है, वही तो उनकी पूजा और उनका सत्कार, सम्मान करवाता है। भगवान की पूजा, उनके गुणों की पूजा है। इस पूजा से उनके शरीर का, रूप-सौन्दर्य का और बाह्य ऐश्वर्य का कोई सम्बन्ध नहीं है।

कौन-सा मार्ग ?

अब प्रश्न यह है कि सत्याचरण की कठोर साधना के बल पर भगवत्तत्त्व की उपासना करने वाला जैन धर्म हमें क्या सिखाता है ? वह हिंसा से अहिंसा की ओर जाने की राह बतलाता है, या अहिंसा से हिंसा की ओर जाने की ? जैन धर्म अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाता है, या प्रकाश से अन्धकार की ओर ? जो धर्म अथवा धर्मोपदेशक प्रकाश से अन्धकार की ओर ले जाता है, वह धर्म नहीं हो सकता, न वह गुरु ही हो सकता है और न भगवान ही। यदि आप इस बात को स्वीकार करते हैं, तो आपको यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि भगवान ऋषभदेव, तत्कालीन जनता को अन्धकार से प्रकाश की ओर ले गये थे; प्रकाश से अन्धकार की ओर कदापि नहीं।

यह माना कि भगवान ऋषभदेव ने प्रारम्भ में जो कुछ भी शिक्षा दी थी वह गृहस्थ-अवस्था में दी थी। परन्तु उस समय उन्हें कौनसा सम्यक्त्व प्राप्त था ? शास्त्रों के अनुसार उन्हें क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त था। इसका अर्थ यह है कि उनकी विचार-सृष्टि में लेशमात्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी मैल नहीं था। जहां कहीं भी थोड़ी-बहुत मलिनता होती है, वहां क्षयोपशम सम्यक्त्व अनेक प्रकार का होता है और जहां पूर्णता है, वहां भेद नहीं होता। यही कारण है कि मतिज्ञान आदि क्षायोपशमिक ज्ञानों के जहां सैंकड़ों भेद गिनाये गये हैं, वहां क्षायिक-ज्ञान अर्थात् "केवल ज्ञान" एक ही प्रकार का बताया गया है।

इसी प्रकार क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के भी असंख्य भेद हैं, तब क्षायिक सम्यक्त्व में ही यह विशिष्टता क्यों आई ? यदि इसमें मिथ्यात्व मोहनीयजन्य विकारों का जरा भी मैल होता तो अवश्य ही किसी-न-किसी अंश में भेद प्रकट हो जाता। जहां अपूर्णता है, वहां भिन्नता अनिवार्य है और जहां अभिन्नता एवं अखंडता है, वहां पूर्णता विद्यमान है। क्षायिक सम्यक्त्व की भूमिका इतनी विशुद्ध है कि वहां दर्शन सम्बन्धी विकारों का मैल अणुमात्र भी नहीं रहा तो वह अखंड, निर्विकल्प हो जाता है।

हां, तो भगवान को निर्मल क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त था। आप तनिक अनुमान कीजिये कि उसके लिए कितनी अनुकम्पा होनी चाहिए? सम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य, ये सब सम्यक्त्व के ही लक्षण हैं। किन्तु जो गुण सबसे अधिक चमकता हुआ है और जिससे सम्यक्त्व की परख की जाती है, वह है 'अनुकम्पा।"

भगवान के हृदय में कितनी दया, कितनी करुणा और कितनी अनुकम्पा थी ? उनके अन्तःकरण में करुणा का सागर लहरा रहा था। वे जो भी प्रवृत्ति करते, उसमें भले ही अनिवार्य हिंसा हो, परन्तु उस हिंसा के पीछे भी करुणा छिपी रहती थी। कदाचित् आप कहेंगे कि अन्धकार और प्रकाश को एक किया जा रहा है। किन्तु ऐसा नहीं है। हिंसा तो अशक्य परिहारस्वरूप आचार में होती है, परन्तु विचार में तो दया और करुणा का निर्मल झरना बहता रह सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

असीम अनुकम्पा

अस्तु, कथन का आशय यही है कि दूसरे सम्यक्त्व में तो विचार-सम्बन्धी आंशिक मैल चल सकता है, परन्तु क्षायिक सम्यक्त्व में अणु-मात्र भी नहीं खप सकता। भगवान ऋषभदेव की प्रवृत्ति क्षायिक सम्यक्त्व की भूमिका से आरम्भ हुई है और जहां क्षायिक सम्यक्त्व है, वहां असीम अनुकंपा है। ऐसा तो कभी हो ही नहीं सकता कि सम्यक्त्व तो प्रगट हो, परन्तु अनुकम्पा प्रदर्शित न हो? यह कदापि सम्भव नहीं है कि सूर्य हो, परन्तु प्रकाश न हो; मिश्री की डली हो, किन्तु मिठास न हो। ऐसी असंगत बात कभी बनने वाली नहीं है। तो निष्कर्ष यही निकला कि सम्यक्त्व के साथ अनुकम्पा का अविच्छिन्न सम्बन्ध है अर्थात् अनुकम्पा के बिना सम्यक्त्व टिक नहीं सकता। अनुकम्पा के अभाव में सम्यक्त्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

जब इस दृष्टि से विचार करेंगे तो स्पष्ट अनुभव होगा कि भगवान की जो भी प्रवृत्तियां हुई हैं, उनके पीछे अनुकम्पा तो अवश्य ही रही होगी। दया का झरना तो निरंतर बहता ही रहा होगा और उस बहाव के साथ सारी क्रियाएँ भी हुई होंगी। तो उस युग की तत्कालीन परिस्थितियों में, जब कि जनता पर विपत्तियों के घने बादल छाये हुए थे, भयानक संकट मुंह बाये खड़ा था और लोगों को अपने प्राण बचाने दुर्लभ थे, आंखों के सामने साक्षात् मौत नाच रही थी, उस संकट काल में भगवान ऋषभदेव ही एकमात्र सहारे थे, वे ही जनता के लिए आशा की प्रकाश-किरण थे। करुणानिधि भगवान ने जनता को उस भीषण संकट से उबारने के लिए ही कृषि सिखायी, उद्योग-धन्धे सिखलाए और शिल्प-कार्य बतलाये। भगवान की यह प्रवृत्ति किस रूप में हुई? वस्तुतः वह हिंसा के रूप में नहीं हुई, जनता को गलत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राह पर भटकाने के लिए भी नहीं हुई। भगवान तत्कालीन जनता को अन्धकार से प्रकाश की ओर ले गये। उन्होंने जनता को प्रकाश से अन्धकार की ओर नहीं ढकेला; शास्त्रकार इस बात को भूले नहीं हैं। इसीलिए जब भारत वर्ष में भगवान ऋषभदेव के द्वारा अकर्म भूमि से कर्म भूमि के युग का निर्माण हो रहा था और कला-कौशल एवं औद्योगिक विकास का मार्ग प्रशस्त हो रहा था तब वह किस उद्देश्य से हो रहा था, इसके लिए जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र में कहा है :

"पयाहियाए उवदिसइ।"

अर्थात्—"प्रजा के हित के लिए यह सब उपदेश किया।"

शास्त्रकार ने इतना कहकर भगवान की जो भी मर्यादाएं थीं, वे सभी व्यक्त कर दीं। इस प्रकार भगवान ने जो भी कार्य किया, उसके पीछे अनुकम्पा थी; और जहां अनुकम्पा तथा हित-भावना है, वहां अहिंसा विद्यमान है।

"पयाहियाए"—इस एक पद ने भगवान की उच्च भावना को स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दिया है। जब तक यह पद सुरक्षित है, और हम चाहते हैं कि भविष्य में भी चिर-सुरक्षित रहे, भगवान की दया का प्रामाणिक परिचय मिलता रहेगा।

प्रकाश की ओर

●

अब आप समझ सकते हैं कि भगवान ने कृषि आदि की जो शिक्षा दी, उसके पीछे उनकी क्या दृष्टि थी ? वे जनता को हिंसा से अहिंसा की ओर ले गये। वे चाहते थे कि लोग महान् आरम्भ की ओर न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाकर, अल्पारम्भ की ओर ही जाएं। यदि वे अल्पारम्भ से महारंभ की ओर ले जाते, तो इसका अर्थ होता…"प्रकाश से अन्धकार की ओर ले गए।" उन्होंने भोली, भूखी और संत्रस्त जनता को ऐसा कर्तव्य बताया कि वह महारंभ से बच जाय। साथ ही पेट की जटिल समस्या भी हल कर सके और अपनी जीवन-पद्धति का मानवोचित प्रशस्त पथ भी अच्छी तरह ग्रहण कर ले।

अनिवार्य

आज भी उद्योग-धंधों के रूप में जो हिंसा होती है, उससे इन्कार नहीं किया जा सकता। जैन धर्म छोटी-से-छोटी प्रवृत्ति में भी हिंसा बताता है। गृहस्थों की बात जाने भी दें, और केवल संसार-त्यागी साधुओं की ही बात लें, तो उनमें भी क्रोध, मान, माया और लोभ के विकारयुक्त अंश मौजूद रहते हैं। इसीलिए उन्हें भी पूर्णतया अहिंसा का प्रमाण-पत्र नहीं मिल जाता है। साधु-जीवन में भी "मायावत्तिया" क्रिया चालू रहती है। जब पूर्ण अप्रमत्त अवस्था आती है तो आरंभिया क्रिया छूट जाती है, किन्तु हिंसा फिर भी बनी रहती है और आगे भी जारी रहती है। यद्यपि उस हिंसा में आरंभ छूट जाता है। उस दशा में हिंसा रहती है, पर आरम्भ नहीं रहता यह एक मार्मिक बात है। इस मर्म को बराबर समझने की कोशिश करनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि वहाँ गमनागमनादि प्रवृत्ति में द्रव्य-हिंसा के भाव न होने से भाव-हिंसा नहीं है। ज्यों ही साधक जागृत होता है, त्यों ही उसमें अप्रमत्त भाव उत्पन्न हो जाता है। जब अप्रमत्त भाव होता है, तब भी बाह्य क्रिया स्वरूप द्रव्य-हिंसा तो बनी रहती है, किन्तु उसमें आन्तरिक भाव-हिंसा नहीं रहती।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अब देखना चाहिए कि जीवन के क्षेत्र में, श्रावक जब उद्योग-धंधे के रूप में कोई काम करता है, तो वहाँ उसकी कार्यविधि एकांत हिंसा की दृष्टि से ही रहती है या उसमें उद्योग-धन्धे की दृष्टि भी कुछ काम करती है ? उसके व्यवसाय का उद्देश्य केवल जीवों को मारना होता है या उद्योग-धन्धे के ही मूल उद्देश्य को लेकर व्यापार करना होता है ?

कृषि के सम्बन्ध में भी यही दृष्टि रखकर सोचना चाहिए। देहात के सैंकड़ों किसान बहुत सवेरे ही उठकर खेतों में काम करने जाते हैं। हमने पंजाब, मेवाड़ और उत्तर-प्रदेश के जैन किसानों को देखा है। वे कृषि का धन्धा करते हैं और प्रायः बड़े ही भावपूर्ण तथा श्रद्धालु होते हैं। सम्भव है, वह श्रद्धा व्यापारियों में न हो, किन्तु उनमें तो इतना प्रेम है और उनके हृदय प्रेम-रस से इतने भरे हुए होते हैं कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

वे खेती का काम करने वाले लोग, जब प्रातःकाल हल लेकर चल पड़ते हैं, उस समय कौनसी भावना उनके हृदय में काम करती है ? क्या वे इस दृष्टि से चलते हैं कि खेती में जीव बहुत इकट्ठे हो गये हैं, अतः चलकर शीघ्र ही उनको समाप्त किया जाए ? नहीं, वहां तो उद्योग की दृष्टि होती है। यदि दृष्टि में विवेक और विचार है तो वह कृषक आरम्भ में भी अंशतः अनारंभ की दशा प्राप्त कर लेता है। कहने का आशय यही है कि कृषक आरंभ का संकल्प लेकर नहीं चला है। जब वह काम करता है, तब यह वृत्ति नहीं होती है कि इन जीवों को मार डालूं। हिंसा करने का उसका संकल्प कदापि नहीं है, हिंसा करने के लिए वह प्रवृत्ति भी नहीं करता है। उसका एकमात्र संकल्प "धन्धा" करना है, जीवन-निर्वाह करना है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्फोट-कर्म

●

खेती में महारंभ है, इस प्रकार का भ्रम कैसे उत्पन्न हो गया ? समग्र जैन साहित्य में "फोड़ीकम्मे" ही एक ऐसा शब्द है, जिसने इस भ्रम को उत्पन्न किया है। पर; हमें "फोडीकम्मे" के वास्तविक अर्थ पर ध्यान देना होगा। "फोडी" शब्द संस्कृत के "स्फोट" शब्द से बना है, जिसका अर्थ है धड़ाका होना। जब सुरंग खोदकर उसमें बारूद भरी जाती है और तदुपरान्त उसमें आग लगाई जाती है, तो धड़ाका होता है और बड़ी-से-बड़ी चट्टान भी टुकड़े-टुकड़े होकर इधर-उधर उछलकर दूर जा गिरती है। आज के अखबार पढ़ने वाले जानते हैं कि अमेरिका और रूस आदि के वैज्ञानिक लोग जमीन के अन्दर बारूद बिछा देते हैं और जब उसमें चिनगारी लगती है तो विस्फोट होता है। आशय यही है कि बारूद के द्वारा धड़ाका करना विस्फोट या स्फोट कहलाता है। न केवल पहाड़ तोड़ने के लिए बल्कि युद्ध में भी बमों का स्फोट (विस्फोट) होता है। आजकल तो अणु बम-विस्फोट पूरी मानव-जाति के लिए खतरे की घन्टी है। इस तरह के घोर हिंसाजन्य स्फोट कर्म का निषेध होना ही चाहिए। परन्तु कृषिकार्य को स्फोट कार्य मानना सर्वथा भूल है।

खेती करते समय विस्फोट नहीं होता। खेती में बारूद भरकर आग नहीं लगाई जाती, वह तो हल से ही हो जाती है। मैंने एक बालक से प्रश्न किया—किसान खेत में हल चलाता है। इसके लिए जमीन को "जोतना" कहा जायेगा या "फोड़ना" कहा जायेगा ? इन दोनों प्रयोगों में से शुद्ध प्रयोग कौनसा है ? उस बालक को भी "जोतना" प्रयोग ही सही मालूम हुआ। आशय यह है कि हल के द्वारा जमीन जोती ही जाती है, फोड़ी नहीं जाती। हल से जमीन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का फोड़ना तो दूर रहा, कभी-कभी तो जमीन खोदी भी नहीं जाती। खोदना तब कहलाता है, जब गहरा गड्ढा किया जाय। हां, हल से जमीन कुरेदी जरूर जा सकती है।

व्याकरण का मुझे ज्ञान है। दावा तो नहीं करता, परन्तु व्याकरण के पीछे कई वर्ष घुलाये अवश्य हैं। अतः इस नाते बोलने का साहस कर रहा हूं और चुनौती के साथ कहता भी हूं कि फोड़ना, खोदना और कुरेदना अलग-अलग क्रियाएं हैं। खोदना फावड़े या कुदाल से होता है, हल से खोदना या फोड़ना नहीं होता।

संस्कृत भाषा के कृषि शब्द को ही ले लीजिये। कृषि का अर्थ होता है "विलेखन" "कृष्" धातु कुरेदने के अर्थ में ही आती है। क्या पाणिनि व्याकरण और क्या शाकटायन-व्याकरण, सर्वत्र "कृष्" धातु का अर्थ "विलेखन" ही किया गया है।

अभिप्राय यह है कि जमीन को जोतना "फोडीकम्मे" के अन्तर्गत नहीं है। "फोडीकम्मे" का संस्कृत रूप "स्फोट कर्म" होता है और पूर्वोक्त प्रकार से यह स्पष्ट है कि जमीन में हल चलाना न तो स्फोट करना है और न खोदना ही, क्योंकि जमीन जोतते समय न तो धड़ाका किया जाता है, और न गड्ढे ही किये जाते हैं।

सही अर्थ

वास्तव में स्फोटकर्म तब होता है, जब सुरंग खोदकर उसमें बारूद भरकर एवं आग लगाकर धड़ाका किया जाता है। पहाड़ों में खान खोदने का काम बहुत पुरातन युग से चला आ रहा है। हथोड़ों और फावड़ों से विशालकाय पत्थर कहां तक खोदे जा सकते हैं? अस्तु उनमें छेद कर के बारूद भर दी जाती है और ऊपर से आग लगा दी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाती है। जब बारूद में आग भड़कती है व चट्टानें टूट-टूटकर उछलती हैं तो दूर-दूर तक के प्रदेश में रहने वाले जानवर और इन्सान के भी कभी-कभी प्राण ले बैठती हैं। कितने ही निर्दोष प्राणियों के प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं और कितने ही बुरी तरह घायल हो जाते हैं।

ऐसे स्फोटों से पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा का भी कुछ ठिकाना नहीं रहता। कभी-कभी जोरदार धड़ाके से पहाड़ भी खिसक जाते हैं, और न जाने कितने मनुष्य दबकर मर जाते हैं, जिनका फिर कोई पता ही नहीं चलता। ऐसा स्फोटकर्म महारंभ है, महा-हिंसा है।

ऐसे कामों में पंचेन्द्रिय की, और पंचेन्द्रियों में भी मनुष्यों की हत्या का सम्बन्ध है। इसी कारण भगवान् महावीर ने स्फोटकर्म को महान् हिंसा में गिना। श्रावक तो कदम-कदम पर करुणा और दया की भावना को लेकर चलता है, अतः उसे यह स्फोटकर्म शोभा नहीं देता। भगवान् महावीर का यही दृष्टिकोण था। परन्तु दुर्भाग्य से आज उसका यथार्थ अर्थ भुला दिया गया है। इसके बदले इधर-उधर की कुछ निरर्थक बातें लेकर चल पड़े हैं। जन-हित के लिए कुंआ खुदवाना भी महारंभ माना जाता है और यदि कोई लोकोपकारी काम किया जाता है तो उसे भी महारंभ बताया जाता है। इसका तो यह अर्थ हुआ कि यदि कोई जैन राजा हो जाय, तो वह जनता के हित का कोई काम नहीं कर सकता, क्योंकि महारंभ हो जायेगा। और जनता के सम्बन्ध में यदि कोई कुछ भी विचार न करे तो वह एक प्रकार से निर्जीव मांस का पिण्ड ही माना जायेगा। मनुष्य खुद तो दुनिया भर का भोग-विलास करता रहे, किन्तु जनता के हित के लिए कोई भी सत्कर्म न करें, किमाश्चर्यमतः परम्?

एक कसाई और एक कृषक जब यह सुनता है कि कसाईखाना चलाना भी महारंभ है और कृषि भी महारंभ है, तो कसाई को अपनी आजीविका त्याग देने की प्रेरणा नहीं मिल सकती। वह किस प्रकार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कृषक की कोटि में अपने आपको पाकर दुगुने उत्साह का अनुभव करेगा और सन्तोष मानेगा ? यदि पशु-वध को त्याग देने का विचार उसके दिमाग में उठ भी रहा होगा, तब भी वह न त्यागेगा। दूसरी ओर कृषक जब यह जानेगा कि उसकी आजीविका भी कसाई की आजीविका के समान है, और जब उसे इस बात पर विश्वास भी हो जायेगा, तब कौन कह सकता है कि कृषि जैसे श्रम-साध्य धन्धे को त्यागकर वह कसाईखाने की आजीविका को न अपना ले ?

सट्टा या कृषि

●

एक गृहस्थ देहली में मिलने आये। मैंनै पूछा—कहिये, क्या बात है ? उसने कहा—आपकी कृपा से, बड़े आनन्द में हूं। महाराज, मैं पहले बहुत दुखी था। खेती का काम करता था, तो महाहिंसा का काम होता था। अब जमीन बेचकर चांदी का सट्टा करता हूं। बस, कोई झगड़ा-टंटा नहीं है। न जाने; किस पाप-कर्म का उदय था कि खेती जैसे महापाप के काम में फंसा था। अब पूर्व-पुण्य का उदय हुआ, तो उससे छुटकारा मिला है। अब सट्टे का धन्धा बिल्कुल प्रासुक-निर्दोष-धंधा है। न कोई हिंसा है, न कोई पाप।"

दो महीने बाद वही गृहस्थ एक दिन रोता हुआ-सा मेरे पास आया। पूछा—क्या हाल है ? उसने कहा—महाराज, मर गया। किसी काम का न रहा। सारी पूंजी गंवा बैठा।

मैंने कहा, "अरे, तुम्हारा तो पूर्व-पुण्य का उदय हुआ था और निर्दोष काम की शुरूआत हुई थी। न कोई हिंसा और न कोई पाप ! फिर बर्बाद कैसे हो गये ?"

हां, तो जो गलत दृष्टिकोण जनता को मिल जाता है, उससे महा-हिंसा को उत्तेजना मिलती है। यह न करो, वह न करो, इस तरह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसे मर्यादित चालू जीवन से उखाड़कर दूसरे सट्टे आदि के कुपथ पर लगा दिया जाता है। फिर वह न तो इधर का रहता है, और न उधर का। वह बाह्य हिंसा के चक्र में उलझा हुआ यह नहीं समझ पाता कि सट्टे आदि के पीछे कितनी अनैतिकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आर्य कर्म और अनार्य कर्म

जैन धर्म अहिंसा के बारे में जितनी गहराई तक जाता है, उतनी गहराई तक बहुत कम लोग पहुंच पाते हैं। जैन धर्म ने जीवन के प्रत्येक प्रश्न को अहिंसा की कसौटी पर परखा है और उस पर अपना निर्णय भी दिया है।

दुर्भाग्य से हमारे कुछ साथियों ने जैन-धर्म का वास्तविक और मौलिक स्वरूप भुला दिया है, फलतः जीवन के मूलभूत प्रश्नों पर कुछ ने तो स्पष्ट हां' या 'ना' न कहकर एकमात्र मौन मृत्यु की ही राह पकड़ ली है। पर इस तरह बच-बच कर बात करने से कब तक काम चलेगा ? यदि कोई गृहस्थ विद्यालय, अथवा औषधालय आदि खोलता है, तो वह अपने इस कार्य के सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट निर्णय तो चाहेगा ही कि वह जो कार्य कर रहा है, वह धर्म है या पाप है ? गोलमाल भाषा में कहा जा सकता है कि विद्यालय या औषधालय खोलना-खुलवाना अच्छा है। पर सोचना तो यह है कि वह केवल लोकभाषा में अच्छा है, या धार्मिक दृष्टि से भी अच्छा है ? हमें किसी स्पष्ट निर्णय पर आना ही पड़ेगा। केवल लोक-धर्म, राष्ट्र-धर्म या गृहस्थ-धर्म कहने से अब काम नहीं चल सकेगा।

कोरा मौन धारण करने से भी अब काम नहीं चल सकता; क्योंकि समय प्रगति-पथ पर तीव्र गति से अग्रसर हो रहा है। जो व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र, व्यापक दृष्टिकोण से समय की गति देख लेता है और अपने विकास-साधक कर्मों को समय के अनुकूल बना लेता है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समय उसी का समर्थन करता है। कोई कुछ पूछे और उत्तर-दाता मौन हो रहे तो इसका अर्थ यही समझा जायेगा कि कहीं कोई गड़बड़ है, दाल में काला है और आप में कहीं-न-कहीं दुर्बलता है। धर्म और दर्शन का अन्तर्मर्म खुलकर बाहर आना चाहता है। भला, कब तक कोई उसे दबाए-छिपाए रख सकता है ?

संसार का धर्म

इन सब उलझनों के कारण साधुओं के एक वर्गविशेष ने तो स्पष्ट रूप से "ना" कहना शुरू कर दिया है। उसका कथन है—इन सांसारिक बातों से हमें क्या प्रयोजन ? हमसे तो आत्मा की ही बात पूछो।

मैं पूछता हूं, वे केवल आत्मा की ही बात करने वाले व्यक्ति भोजन क्यों करते हैं ? औषधालयों में जा-जाकर दवाइयां क्यों खाते हैं ? चलते-फिरते क्यों हैं ? ये सब तो आत्मा की बातें नहीं हैं ! केवल आत्मा सम्बन्धी बातें करने वालों को संसार से कोई सम्बन्ध ही नहीं रखना चाहिए। वे शहरों में क्यों रहते हैं ? जंगल की हवा क्यों नहीं खाते ?

सच तो यह है कि चाहे कोई साधु हो या गृहस्थ, भूख की पूर्ति तो सभी को करनी पड़ती है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि "करेमि भंते" का पाठ बोलते ही; अर्थात् साधु-दीक्षा लेते ही कोई आजीवन अनशन कर दे, देहोत्सर्ग कर दे।

यदि गृहस्थ अपनी उदर-पूर्ति करेगा तो वह उद्योग-धन्धा तो निश्चित ही करेगा। वह या तो खेती-बाड़ी करेगा या कोई और मार्ग पकड़ेगा। भिक्षापात्र लेकर तो वह अपना जीवन-निर्वाह कर नहीं सकता। क्या जैन-धर्म कभी किसी गृहस्थ से यह कहता है कि भीख

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मांगकर सीधी रोटी खाना धर्म है और कर्तव्य-समर में जूझकर रोटी खाना अधर्म है ? नहीं, जैन-धर्म ऐसा कभी नहीं कहता। परन्तु हमारे अनेक भाइयों ने यह समझ लिया है कि भिक्षा मांगकर खाना 'धर्म' है; और कर्तव्य कर के जीवन निर्वाह करना 'पाप' है। परन्तु जो रोटी न्याय-नीतिपूर्वक पुरुषार्थ से और उत्पादन से प्राप्त की जाती है, क्या वह पाप की रोटी है ?

जो लोग ऐसी रोटी को पाप की रोटी बतलाते हैं, उनके सम्बन्ध में मैं साहस-पूर्वक कहता हूं कि उन्हें जैन-शास्त्रों का अन्तस्तत्व छुआ तक नहीं है। वे गलतफहमी और संकुचित विचार-श्रृंखला में उलझे पड़े हैं। उनका कहना है कि गृहस्थ तो प्रवृत्ति में पड़ा हुआ है, इसलिए उसकी कमाई हुई रोटी पाप की रोटी है, और यदि वह भिक्षा मांग कर सीधा खाता है तो प्रासुक होने से वह धर्म की रोटी है। परन्तु जैन-धर्म के आचार्यों ने हाथ पर हाथ धरकर निष्क्रिय बैठे रहने वाले, परश्रमोपजीवी गृहस्थों को भिक्षा से निर्वाह करने का अधिकार कब और कहां दिया है ? ऐसे सामान्य गृहस्थों के लिए भिक्षा का विधान ही कहां है ? जो हट्ठे-कट्ठे होकर भी दूसरों के श्रम के सहारे माल उड़ाते हैं और भिक्षा कर के सुखी जीवन बिताते हैं, उनकी भिक्षा को हमारे यहां "पौरुषघ्नी" भिक्षा बतलाया गया है। सामान्य गृहस्थ की भूमिका, श्रम करने की है। जो श्रम नहीं करता, उसे खाने का क्या हक़ है ?

इस प्रकार जीवन तो चाहे साधु का हो या गृहस्थ का, प्रवृत्ति के बिना संसार में क्षण भर भी नहीं रहा जा सकता।

"न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।"

अर्थात् कोई भी व्यक्ति क्षण भर भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदि सारा संसार भिक्षा-पात्र लेकर निकल पड़े तो रोटियां आएंगी भी कहां से ? क्या रोटियां आकाश से बरसने लगेंगी ? कोई देव आकाश से रोटियां नहीं बरसाएगा। उनके लिए तो यथोचित् श्रम, प्रवृत्ति और पुरुषार्थ करना ही पड़ेगा। प्रवृत्ति को कोई छोड़ ही नहीं सकता।

हमारे कुछ साधकों ने भ्रान्त विचार-शृंखलाओं में फंसकर और सत्यमार्ग से विचलित होकर जोरों के साथ यह बात फैला दी कि पुत्र-पुत्रियों द्वारा माता-पिता आदि की सेवा करना एकान्त पाप है, यह संसारी काम है। इसमें धर्म का अंश भी नहीं है। इस प्रकार की बातें कह-कहकर उन्होंने गृहस्थ का मन गृहस्थ धर्म की भूमिका से दूर हटा दिया है। फलतः गृहस्थ अपने उत्तरदायित्व से दूर भाग खड़ा होता है।

आज गृहस्थ-जीवन की पगडंडियों पर चलने वालों ने अपना मार्ग अत्यन्त संकीर्ण बना लिया है। वे समझ बैठे हैं कि जो काम साधु न करे, उसमें पाप के सिवाय और कुछ नहीं है। बहुतेरे लोगों के दिमाग में ऐसी भ्रान्त धारणा बैठ गई है। इसीलिए उनका विश्वास हो गया है कि रोटियां खाई तो जायं, पर उनके लिए कमाई न की जाय; कपड़ा पहना तो जाय, पर बुना न जाय; पति-पत्नी बना तो जाय, परन्तु एक-दूसरे की सेवा न की जाय; माता का पद तो लिया जाय, पर माता का काम न किया जाय; पिता बनने में सौभाग्य समझते हैं, परन्तु पिता के दायित्व से बचना चाहते हैं।

इन भ्रमपूर्ण धारणाओं ने आज गृहस्थ-जीवन को विकृत बना दिया है। आखिर यह उलटी गाड़ी कब तक चलेगी ? क्या जैन-धर्म ऐसी ही उलटी गाड़ी चलाने का आदेश देता है ? वह यह कहां कहता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है कि जो कुछ तुम बनना चाहते हो, उसके दायित्व से बचने की कोशिश करो।

जैन-धर्म जीवन की आवश्यक प्रवृत्तियों को बन्द करने के लिए नहीं आया है। वह इस सम्बन्ध में एक सुन्दर सन्देश देता है, जो सर्वतोभावेन अभिनंदनीय है।

खेती-बाड़ी, व्यापार-वाणिज्य आदि जितनी भी प्रवृत्तियां हैं, उन सब को बन्द कर के चलोगे तो एक दिन भी टिक नहीं सकोगे। यही नहीं, अकर्मण्य होकर, आलसियों की पंक्ति में बैठ जाने मात्र से ही तुम प्रवृत्तियों से छुटकारा नहीं पा सकते। तुम्हारा मन, जो कि प्रवृत्तियों का मूल स्रोत है, अपनी उधेड़-बुन में निरन्तर लगा ही रहेगा। उसकी दुकान-दारी कभी बन्द न होगी। उसे कहां ले जाकर बिठाओगे और किस कोने में छिपाओगे? ऐसी स्थिति में जैन-धर्म कहता है कि प्रवृत्तियां भले ही हों, पर उनमें जो विष का पुट है, उसे हटा दीजिये। उनके पीछे क्षुद्र स्वार्थ एवं आसक्ति की जो विषाक्त भावनाएं हैं, उन्हें धक्का देकर बाहर निकाल दीजिये। यदि तुम दुकान पर बैठें हो, तो अन्याय से धन न बटोरो, किसी गरीब का खून मत चूसो, दूसरों का शोषण करने की ही प्रवृत्ति मत रखो। तुम्हारी प्रवृत्ति में से यदि अनीति और धोखा धड़ी का विष निकल जाएगा, तो वह तुम्हारे जीवन की प्रगति में बाधक नहीं बनेगी, अपितु विकास की नई प्रेरणा प्रदान करेगी।

खेती-बाड़ी करने वाले को भी जैन-धर्म यही कहता है कि यदि तुम खेती करते हो तो उसमें अन्धाधुन्धी मत करो। खेती की प्रवृत्ति में से अज्ञान और अविवेक का जहर निकाल दो। अपने उत्पादन किये अन्न को ऊंचे दामों में बेचने के लिए दुर्भिक्ष पड़ने की गन्दी कामना न करो, बल्कि दूसरों के जीवन-निर्वाह में सहायक बनने की करुणा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गयी पवित्र भावना रखो। बस, वही खेती आर्य-कर्म कहलाएगी। पवित्र एवं करुणामयी भावना के अनुरूप कुछ अंश में पुण्य का उपार्जन भी किया जा सकेगा।

गृहस्थ जिस किसी भी कार्य में हाथ डाले, यदि उसके पास विवेक का दिव्य-प्रकाश है तो उसके लिए वह आर्य-कर्म होगा। इसके विपरीत यदि असावधानी से, अविवेक से और साथ ही अपवित्र भावना से कोई कार्य किया जायेगा, फिर चाहे वह दुकानदारी हो या घर की सफाई सरने का ही साधारण काम क्यों न हो, तो वह अनार्य-कर्म होगा। जैन-धर्म आर्य-कर्म और अनार्य-कर्म की एक ही व्याख्या करता है; अर्थात्—विवेकपूर्वक, न्याय-नीतिपूर्वक किया गया कर्म "आर्य-कर्म है; और अन्याय से, अनीति से, छल-कपट से एवं दुर्भावना से किया जाने वाला कर्म "अनार्य-कर्म" है।

सामान्यतया कहा जा सकता है कि खेती आर्य-कर्म है, इस विषय में प्रमाण क्या है? सब से पहले मैं यही कहूंगा कि प्रश्नकार का विवेक ही प्रमाण है, उसके अन्तःकरण की वृत्तियां ही प्रमाण है। सबसे बड़ा प्रमाण मनुष्य का अपना अनुभव ही है। क्या तीर्थंकर किसी बात के निर्णय के लिए किसी ग्रंथ, शास्त्र या महापुरुष के किसी वाक्य को खोजते फिरते हैं? नहीं, क्योंकि उनके पास ज्ञान का वह अनुपम सर्चलाइट हैं, जिसके समक्ष सभी प्रकाश फीके पड़ जाते हैं। उन्हें किसी भी ग्रंथ या पोथे को टटोलने की जरूरत ही नहीं होती।

इसी प्रकार जिसके पास विवेक-बुद्धि है, उसे कहीं भी भटकने की आवश्यकता नहीं है। जिसकी दृष्टि सम्यक् है और सत्य के प्रति जिसे सच्ची निष्ठा है, वह किसी चीज के औचित्य का निर्णय स्वयं कर सकता है। जो साधक विवेक का सहारा न लेकर धर्म की ऊंची-ऊंची बातें करता है, वह बिना आत्म-प्रकाश के, अन्धकार में टकरा कर गिर जाता है। धर्म का रहस्य विवेक के बिना समझ में नहीं आ सकता। एक भारतीय ऋषि ने कहा है:

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः"।

अर्थात्—जो तर्क से सत्य का अनुसंधान करता है, वही धर्म को जानता है, दूसरा नहीं।

गणधर गौतम के पूछने पर महावीर ने भी उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है :

"पन्ना समिक्खए धम्मं तत्तं तत्त विणिच्छियं।"

अर्थात्—"साधक की सहज बुद्धि ही धर्म-तत्त्व की सच्ची समीक्षा कर सकती है।"

आधार

●

वस्तुतः जीवन का निर्माण विचार के आधार पर ही होता है। विचार के बाद ही हम किसी प्रकार का आचरण करते हैं, और विचार के लिए सर्व प्रथम विवेक की आवश्यकता होती है। अतः खेती आर्य कर्म है या अनार्य कर्म ? इस प्रश्न पर विचार करने के लिए सर्व प्रथम अपने विवेक-शुद्ध अन्तःकरण से ही उत्तर मांगना चाहिए।

जो किसान दिन भर चोटी से ऐड़ी तक पसीना बहाता है, अन्न उत्पन्न कर संसार को देता है, अपना सारा समय, परिश्रम और जीवन कृषि के पीछे लगा देता है, ऐसे अन्नोत्पादक और अन्नदाता को यदि आप अनार्य-कर्मी कहें और उस अन्न को खाकर ऐश-आराम से जिंदगी बिताने वाले आप स्वयं आर्य-कर्मी होने का दावा करें; भला इस निराधार बात को किसी भी विवेकशील का अंतःकरण कब स्वीकार कर सकता है ? आप बुद्धि का गज डालकर जरा अपने को नाप-तौल कर देखें कि कृषि, क्या अनार्य-कर्म हो सकती है ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भगवान् महावीर ने भी कृषि-कर्म करने वाले व्यक्तियों को वैश्य बतलाया है। भगवान् महावीर के पास आने वाले और व्रत ग्रहण करने वाले जिन प्रमुख श्रावकों का वर्णन उपासकदशांग सूत्र में आता है, उनमें से एक को छोड़कर कोई भी ऐसा नहीं था, जो श्रावक अवस्था में खेती-बाडी का धंधा न करता हो। इससे आप स्वयं अनुमान लगा सकते हैं कि हमारी परंपरा हमें खेती के विषय में क्या निर्देश करती है? वाणिज्य-व्यापार का नम्बर तो तीसरा है, वैश्य का पहला कर्म खेती और दूसरा कर्म पशु-पालन गिनाया गया है।

आर्य और अनार्य कर्मों का विस्तृत विवरण प्रज्ञापना सूत्र में भी आया है। वहाँ आर्य-कर्मों के स्वरूप का निर्देशन करते हुए कुछ थोड़े से कर्म गिनाकर अंत में "जे यावन्ने तहप्पगारा" कहकर सारा निचोड़ बतला दिया है। इसका सारांश यही है कि इस प्रकार के और भी कर्म हैं, जो आर्य-कर्म कहलाते हैं।

कुम्भकार के धंधे को भी वहां आर्य-कर्म बतलाया गया है। इससे आप फैसला कर सकते हैं कि कृषि-कर्म को अनार्य-कर्म कहने का कोई कारण नहीं था। पर इस गए-गुजरे जमाने में नए टीकाकार पैदा हुए हैं, जो उन पुराने आचार्यों की मान्यताओं और भगवान् महावीर के समय से ही चली आने वाली पवित्र परंपराओं को तिलांजलि देने की अभद्र चेष्टा कर रहें हैं। जैन-जगत के युगद्रष्टा एवं क्रांतिकारी आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज को, जिन्होंने प्राचीन परंपरा के आधार पर अपना स्पष्ट चिंतन रखा, ऐसे ही कुछ टीकाकार, उत्सूत्र-प्ररूपी तक कहने का दुस्साहस करते हैं। खेती आर्य-कर्म नहीं है, इससे बढ़कर सफेद झूठ और क्या हो सकता है?

शायद विक्रम की दूसरी या तीसरी शताब्दी में आचार्य उमास्वाति हुए हैं, जिन्होंने तत्त्वार्थ सूत्र पर स्वोपज्ञ भाष्य लिखा है। उन्होंने आर्य कर्मों की व्याख्या करते हुए कहा है:

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"कर्मार्याः यजनयाजनाध्ययनाध्यापन-
कृषिवाणिज्ययौनिपोषणवृत्तयः।"

यह चिंतन कहां से आया है ? उपर्युक्त प्रज्ञापना सूत्र के आधार पर ही यहां चिंतन किया गया है।

खेती आदि कर्मों के आर्य-कर्म होने के संबंध में इनसे अच्छे और क्या प्रमाण हो सकते हैं ? सारांश यही है कि श्रावक की भूमिका ही अल्पारंभ की भूमिका है। इसका रहस्य यही है कि श्रावक में विवेक होता है। वह जो भी काम करेगा, उसमें विवेक की दृष्टि अवश्य रखेगा।

असली चीज तो विवेक है। जहां विवेक नहीं है, वहां खेती भी अल्पारंभ नहीं है। यहां तक कि विवेक के अभाव में लेखन तथा वस्त्र आदि का व्यवसाय करना भी अल्पारंभ नहीं होगा।

इस तरह हमें जीवन के प्रत्येक प्रश्न पर आर्य-कर्म और अनार्य-कर्म तथा अल्पारंभ और महारंभ का निर्णय कर लेना चाहिए। विवेक को त्याग कर यदि किसी एक ही पक्ष के खूंटे को पकड़ कर हम चिल्लाते रहेंगे तो हमारी समझ में कुछ भी नहीं आएगा और हम जैन-धर्म को भी विश्व की दृष्टि में हेय सिद्ध कर देंगे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कृषि अल्पारंभ है

प्रत्येक व्यक्ति को हिंसा और अहिंसा का मर्म समझना चाहिए। मनुष्य को अपने जीवन के प्रत्येक कार्य की छानबीन करना चाहिए और देखना चाहिए कि कहां कितनी हिंसा हो रही है और कहां कितनी अहिंसा की साधना चल रही है।

साधारणतया साधकों के जीवन के दो भाग होते हैं। एक गृहस्थ-जीवन और दूसरा साधु-जीवन। गृहस्थ को अपने आदर्श गृहस्थ-जीवन की ऊंचाइयां प्राप्त करना है, और साधु को अपने शाश्वत क्षेत्र में जीवन के सर्वोच्च शिखर का स्पर्श करना है। ऐसी बात नहीं है कि साधु बनते ही उसके जीवन में पूर्णता आ जाती है। महाव्रतों के ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करते ही जीवन में पूर्णता आ गई, ऐसा समझना सर्वथा भ्रमपूर्ण होगा। साधु—जीवन अपने आप में अपूर्ण है और उसे शाश्वत जीवन की पूर्णता प्राप्त करना है। वस्तुतः पूर्णता हिमालय की सर्वोच्च चोटी है और साधु को वहां तक पहुंचने के लिए कठिन साधना अपेक्षित है।

गृहस्थ-जीवन की भी अनेक कक्षाएं हैं। और उन कक्षाओं के भी कई खंड हैं। ऐसा नहीं है कि गृहस्थ- जीवन नगण्य है और विष का टुकड़ा है। जो गृहस्थ-जीवन के मैदान में विवेकपूर्वक चलता है, जिसके हृदय में प्रत्येक प्राणी के लिए दया का झरना बहता है, जो महा-हिंसा से दूर रहकर अपनी जीवन-यात्रा तय कर रहा है वह अपने श्रावक के कर्तव्यों को दृढ़ता से पूरा कर रहा है। भले ही वह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धीमे कदमों से चलता हो, पर अभीष्ट लक्ष्य की ओर उसकी गति नियमित और निरन्तर अवश्य है।

हमें अपनी पुरानी परंपरा की ओर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिए। वह क्या कहती है ? वह ऐसे गृहस्थ को, जो अपनी जीवन नौका के साथ-साथ दूसरों की जीवन-नौका को भी पार करता है, कभी भी पापी और विष का टुकड़ा नहीं वतला सकती। कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि गृहस्थ को अपनी रोटी कमानी पड़ती है, वस्त्र जुटाना पड़ता है समय आने पर अपने पड़ौसी, समाज और राष्ट्र की रक्षा के लिए कठोर कर्तव्य भी अदा करना पड़ता है, इस लिए वह तो पाप में डूबा हुआ है।

साधु और गृहस्थ

कुछ लोगों ने एक मनगढ़न्त सिद्धान्त निकाला है कि साधु की अपेक्षा गृहस्थ का स्तर नीचा है, इसलिए उसका सत्कार-सम्मान करना, उसकी सेवा-सुश्रूषा आदि करना, अन्य गृहस्थ के लिए पाप का मार्ग है। वह हिंसा, असत्य, चोरी और दुःशीलता का निन्दनीय मार्ग है और पतन की पगडंडी है। मेरे विचार से इस हीन विचार के पीछे अज्ञान चक्कर काट रहा है और विवेक की रोशनी नहीं है। सुपात्र और कुपात्र की अनेक भ्रमपूर्ण धारणाएं भी इसी अज्ञान के कुपरिणाम हैं। गृहस्थ कुपात्र है, उसे कुछ भी देना धर्म नहीं है, साधु को देना ही एकमात्र धर्म है, इस प्रकार की कल्पनाएं संकुचित विचारों द्वारा ही आ गई हैं।

तनिक श्रावक की भूमि का पर भी विचार कीजिये। वह मिथ्यात्व के प्रगाढ़ अंधकार को वेधकर, अनन्तानुबंध रूप तीव्र कषाय की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

फोलादी दीवार को लांघ कर, अव्रत के असीम सागर को पार कर के और अपरिमित भोगों की लिप्साओं से ऊंचा उठकर आया है उसने मिथ्यात्व की दुर्भेद्य ग्रन्थियों को तोड़ा है और वह अहिंसा एवं सत्य के प्रशस्त मार्ग पर यथाशक्ति प्रगति कर रहा है।

सूत्रकृतांग सूत्र में अधर्म और धर्म-जीवन के सम्बन्ध में एक बड़ी ही महत्त्वपूर्ण चर्चा चली है। वहां स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि जो मिथ्यात्व और अविरति आदि के प्रगाढ़ अंधकार में पड़े हैं, वे आर्य-जीवन वाले नहीं हैं, किन्तु जो अहिंसा और सत्य को हितकारी समझते हैं और हिंसा एवं असत्य आदि के बन्धनों को पूरी तरह तोड़ डालने की उच्च भावना रखते हैं और क्रमशः तोड़ते भी जाते हैं, वे गृहस्थ श्रावक भी एकान्त सम्यक् आर्य हैं। उनका कदम संसार के विषय वासना पंकित पतन मार्ग की ओर है या मोक्ष के उर्ध्व मार्ग की ओर? सहज विवेक-बुद्धि से विचार करनेवाला तो अवश्य ही कहेगा मोक्ष की ओर। ऐसे गृहस्थ के विषय में ही सूत्रकृतांग कहता है:—

"एस ठाणे आरिए जाव सव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू"

जो यह गृहस्थ-धर्म की प्रशंसा में आर्य एवं एकान्त सम्यक् आदि की बात कही है, वही सर्व विरति साधु के लिए भी कही गई है।

कदाचित् आप कहेंगे कहां गृहस्थ और कहां साधु? साधु की तरह गृहस्थ एकान्त आर्य कैसे हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में मैं आप से कहता हूं कि श्रावक का दृष्टिकोण भी मूलतः साधु की भांति परम सत्य की ओर है, बंधनों के पाश को तोड़ने की ओर ही है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जब कि सूत्रकृतांग के क्रिया स्थानक में, जहां क्रियाओं का वर्णन है, गृहस्थ को साधु की भांति ही एकान्त आर्य बताया है, तब ऐसी स्थिति में यदि साधु भोजनादि क्रियाएं करे तो पाप नहीं, और यदि श्रावक वही विवेक पूर्वक भोजनादि क्रियाएं करे तो एकान्त पाप ही चिल्लाना, भला किस प्रकार शास्त्र संगत हो सकता है ? वही कार्य करता हुआ श्रावक पापी और कुपात्र कैसे हो गया ? इस पर हमें निष्पक्षतापूर्वक विचार करना होगा।

पाप करना एक चीज है और पाप हो जाना, दूसरी चीज है। पाप तो साधु से भी होना संभव है। वे भी कभी किसी प्रवृत्ति में भूल कर बैठते हैं। पर यह नहीं कहा जा सकता कि साधु जान-बूझकर पाप करता है। वास्तव में वह पाप करता नहीं है, अपितु हो जाता है। इसी प्रकार श्रावक भी कुछ अंशों में तटस्थ वृत्ति लेकर चलता है। परिस्थिति-वश उसे आरंभ करना भी होता है परन्तु वह प्रसन्न भाव से नहीं, उदासीन भाव से करता है। यदि कोई गृहस्थ आसक्ति भाव से आरंभादि पाप कर्म करता है, पाप कर्म के लिए उत्साहित होकर कदम रखता है, तो वह अनार्य है, पर जो गृहस्थ काम तो करता है, पर उसमें मिथ्यादृष्टि जैसी आसक्ति नहीं रखता, वह उसमें से आसक्ति के विष को कम करता जाता है, तो वह अनार्य नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसा न होता तो भगवान् उसे एकान्त सम्यक् एवं आर्य क्यों कहते ?

खेती का मूल्य

●

इतना समझ लेने पर अब मूल विषय पर आइए और विचार कीजिये। एक ओर भगवान ने श्रावक के जीवन को एकान्त सम्यक् आर्य-जीवन कहा है और दूसरी तरफ आप खेती-बाड़ी का धन्धा करने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वाले श्रावक को अनार्य समझते हैं। ये दोनों एक-दूसरे की परस्पर विरोधी बातें कैसे मेल खा सकती हैं ?

श्रावक की भूमिका अल्पारंभ की है, महारंभ की नहीं। महारंभ का मतलब है, घोर हिंसा और घोर पाप, जो श्रावक के जीवन में किसी प्रकार भी घटित नहीं हो सकता। आपको मालूम होगा, गृहस्थ जीवन में आनन्द ने, जो किया, वह एक आदर्श की चीज थी। आनन्द जैसा उच्च एवं आदर्श जीवन व्यतीत करनेवाला श्रावक महारंभ का कार्य नहीं कर सकता था। आनन्द, श्रावक-अवस्था में भी खेती करता था, इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। आनन्द श्रावक था, अतएव अल्पारंभी था। फिर भी वह खेती करता था, इसका फलितार्थ यही है कि खेती श्रावक के लिए वर्जनीय नहीं है, वह अल्पारंभ में ही है।

कृषि के सम्बन्ध में विचार करते समय हमें भगवान् आदिनाथ को स्मरण रखना चाहिए। मानव सभ्यता के आदिकाल में पहले कल्प-वृक्षों से युगलियों का निर्वाह हो जाता था। उस समय उनके सामने अन्न का कोई संकट नहीं था। खाद्य सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थी। जब कि जन संख्या बहुत सीमित थी। पहला जोड़ा जब विदा होने लगता, उधर दूसरा जोड़ा उत्पन्न होता था। इसलिए उनकी संख्या में कोई विशेष अन्तर नहीं होता था। परन्तु भगवान् ऋषभदेव के समय में कल्प-वृक्ष, जो उत्पादन के एकमात्र साधन थे, घटने लगे और जन संख्या बढ़ने लगी। अतएव कल्प-वृक्षों से उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति में बाधा उपस्थित हो गई। जहां उत्पादन कम है और खानेवाले अधिक हो जाते हैं, वहां संघर्ष अनिवार्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भूखों मरते और संकट में पड़े हुए युगलियों को भगवान आदिनाथ ने, जो खेती करना और दूसरे धंधे करना सिखाया, वह क्या था ? उत्पादन की कला सिखाकर उन्होंने हिंसा को बढ़ाया या अहिंसा की राह बतलाई ? उन्होंने ऐसा कर के जीवन-दान दिया, या पाप-कर्म किया ?

यदि रचनात्मक मनोवृत्तिवाला व्यक्ति समाज के कल्याण तथा राष्ट्र की समृद्धि के लिए उत्पादन में वृद्धि करता है, समाज और राष्ट्र की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सक्रिय सहयोग देता है, भूख से तड़पते त्रस्त व्यक्तियों के दुख-दर्द को मिटाने के लिए उत्पादन की कला वताता है, तो वह भी एक प्रकार का अहिंसा का ही एक सुनिश्चित मार्ग है।

आपके घर कोई स्वधर्मी भाई आया है। वह उस समय बड़े संकट में है, क्यों कि उस के घर में अन्न के लाले पड़ रहे हैं और वह गरीबी से ग्रस्त है। उस अवसर पर आपने उसे तात्कालिक सहायता दी अर्थात्-दो-एक बार भोजन करा दिया। पर क्या इतना करने मात्र से उसके जीवन-निर्वाह की समस्या हल हो गई ? उसके सामने दूसरे ही दिन फिर वही भूख की संकटपूर्ण समस्या खडी होगी। इसके विपरीत किसी भाई ने उसे दुखी देख कर और दया से प्रेरित होकर किसी काम पर लगा दिया, कोई व्यवसाय सिखा दिया और अपने पैरों पर खड़ा कर दिया, तो पहले की अपेक्षा दूसरा व्यक्ति स्पष्ट ही अधिक उपकारी गिना जायेगा।

इसी लिए देश के नेतागण प्रायः अपने भाषणों में नवयुवकों को अपने देश के महत्त्वपूर्ण उद्योग सिखाने की प्रेरणा देते हैं। उद्योगों का विकास करते हैं और देश की आर्थिक तथा खाद्य समस्या को हल करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीने की कला

वस्तुतः भगवान् ऋषभदेव ने भी युगलियों को जीने की ही कला सिखाई थी। उनके समय में मनुष्यों की संख्या बढ़ रही थी। इधर मां-बाप भी जीवित रहते थे और उधर सन्तान की संख्या में भी निरंतर वृद्धि हो रही थी। केवल एक जोड़ा संतान उत्पन होने का प्राकृतिक नियम टूट गया था; फलतः सन्ताने बढ़ चली थी। स्वयं ऋषभदेव भगवान् के सौ पुत्र और बहुत सी पुत्रियां थीं। परन्तु दूसरी ओर कल्पवृक्षों में, अर्थात् उत्पादन के साधन में कमी होती जा रही थी। यदि उस समय का इतिहास पढ़ेंगे, तो आप को मालूम होगा कि जिन युगलियों को पहले वैर-विरोध ने कभी छुआ तक न था, वे भी खाद्य के लिए आपस में गाली-गलौज करने लगे, जिससे परस्पर द्वन्द्व होने लगे थे। लाखों वर्षों तक कल्प-वृक्षों का बंटवारा नहीं हुआ था, किन्तु अब वह भी होने लगा और वृक्षों पर अपना-अपना पहरा बिठाया जाने लगा। एक जत्था दूसरे जत्थे के कल्प-वृक्ष से फल लेने आता तो संघर्ष हो जाता। एक वर्ग कहता-यह कल्प वृक्ष मेरा है मेरे सिवा इसे दूसरा कौन छू सकता है ? दूसरा वर्ग कहता, यह मेरा है, अन्य कोई इसके फल नहीं ले सकता। उस समय सब के मुख पर यही स्वर गूंज रहा था कि मैं पहले खाऊंगा। यदि तू इसे ले लेगा, तो मैं क्या खाऊंगा ?

इस प्रकार संग्रह-वृत्ति बढ़ने लगी थी। उस समय यदि भगवान् ऋषभदेव सरीखे मानवता के कुशल कलाकार प्रकट न होते, तो हमारे वे आदि काल के पूर्वज आपस में लड़-झगड़ कर ही समाप्त हो जाते। भगवान् ने उन्हें मानव-जीवन की सच्ची राह बताई और अपने सदुपदेश से इनके संघर्ष को समाप्त करने का सफल प्रयत्न किया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संकुचित दृष्टिकोण के कारण यह आशंका की जा सकती है कि क्या भगवान् ऋषभदेव उन्हें भोजन नहीं दे सकते थे? जब कि देव और उनका अधिपति स्वयं इन्द्र उनकी आज्ञा में था। वे आज्ञा देते तो उन्हें भोजन मिलने में क्या देर लग सकती थी? परन्तु ऐसा करने से भूखों की आवश्यकताएं तब तक पूरी होती रहतीं जब तक भगवान् रहते। इसलिए भगवान ने सोचा, मेरे जाने के बाद वही द्वन्द, संघर्ष, लड़ाई झगड़ा और मार-काट मचेगी। फिर वही समस्या खड़ी होगी। अतएव भगवान् ने उन्हें हाथों से परिश्रम करना सिखाया। उन्होंने कहा तुम्हारे हाथ स्वयं तुम्हारी सृष्टि का सुन्दर निर्माण कर सकते हैं और यह निर्माण तुम्हारे सुखद जीवन का आधार होगा।

इस प्रसंग पर मुझे अथर्व वेद-कालीन एक वैदिक ऋषि की बात याद आरही है, जिसने कहा था: **अयं मे हस्तो भगवान अयं मे भगवत्तरः।**

अर्थात्-यह मेरा हाथ ही भगवान् है; बल्कि मेरा हाथ भगवान् से भी बढ़ कर है। वास्तव में हाथ ही महान् ऐश्वर्य का भंडार है, यदि उसकी उपयोगिता को भली-भांति समझ लिया जाये।

इस प्रकार भगवान् ने युगलियों के हाथों से ही उनकी अपनी समस्या सुलझाई। मैं तो यहां तक कहता हूं भगवान् ने केवल उन युगलियों की समस्या को ही नहीं सुलझाया, बल्कि आज के मानव-जीवन की जटिल समस्या को भी हल किया है।

प्रायः हमारे कई साथी कहते हैं की खेती तो महारंभ है। क्यों कि भगवान् स्वयं गृहस्थाश्रम में थे, इस लिए उन्हों ने-जनता को महारंभ की शिक्षा दीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सही दिशा

पर हमारा दिल इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं है। गृहस्थाश्रम में होने के कारण यदि उन्होंने महारंभ रूप खेती सिखाई तो वे पशुओं को मार कर खाने की शिक्षा भी दे सकते थे। फिर उन्होंने क्यों नहीं कह दिया कि ये लाखों-करोड़ों पशु-पक्षी मौजूद हैं। इन्हें मारो और खा जाओ। उन्होंने शिकार कर के जीवन-निर्वाह कर लेने की शिक्षा क्यों नहीं दी ? पशु पक्षियों को मारने और शिकार खेलने की तरह खेती को भी महारंभ माननेवाले इस प्रश्न का क्या उत्तर देते हैं ?

पशुओं को मार कर खाना महारंभ होने से नरक का कारण है और यदि खेती भी महारंभ होने के साथ-साथ नरक-गति का कारण है तो भगवान् पशु-पक्षियों को मार कर खाने की, अथवा दोनों उपायों को यथा आवश्यकता प्रयोग में लाने की शिक्षा दे सकते थे। परन्तु भगवान् ने ऐसा नहीं किया। इसके पीछे कोई रहस्य होना चाहिए। वह यही है कि अहिंसा की दृष्टि से वास्तव में खेती महारंभ नहीं है, अल्पारंभ है। भगवान् ने अल्पारंभ के द्वारा जनता की जटिल समस्या हल की। उन्होंने सूक्ष्म दृष्टि से देखा, यदि ऐसा प्रयोग न किया गया, जनता को अल्पारंभ का पेशा न सिखाया गया तो वह महारंभ की ओर अग्रसर होती जायेगी। लोग आपस में लड़-झगड़ कर मर मिटेंगे, एक दूसरे को मार कर खाने लगेंगे। इस प्रकार भगवान् ने महारंभ की अनिवार्य एवं व्यापक संभावना को खेती-बाड़ी सिखा कर समाप्त कर दिया और जनता को आर्य-कर्म की सही दिशा दिखाई। मांस खाना, शिकार खेलना आदि अनार्य कर्म भगवान् ने नहीं सिखाए, क्योंकि वे हिंसारूप महारंभ के प्रतीक थे, जब कि कृषि-उद्योग अहिंसा रूप अल्पारंभ का प्रतीक है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इतने विस्तृत विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् ऋषभदेव ने खेती-बाड़ी आदि के जो भी उद्योग-धन्धे सिखलाए, वे सभी आर्य-कर्म थे, अनार्य-कर्म नहीं। उन्होंने विवाह प्रथा तो चलाई पर वेश्या-वृत्ति नहीं। खेती सिखाई पर शिकार नहीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने जो कुछ भी सिखाया, वह सब प्रजा के हित के लिए ही था।

सारांश में यही कथन पर्याप्त समझता हूं कि कोई भी अहिंसावादी महापुरुष किसी भी परिस्थिति में महारंभ के कार्य की शिक्षा नहीं दे सकता। एक महापुरुष कहलाने वाला व्यक्ति यदि ऐसे कार्य की शिक्षा देता है तो अपने अनुयायियों के साथ वह भी नरक का राही बनेगा, क्यों कि हजारों-लाखों व्यक्ति उसके अनुकरण में तदनुरूप काम करते रहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अहिंसा और कृषि

भगवान ऋषभदेव ने मानव समाज को धरती पर सर्व प्रथम जीने की कला सिखाई, फलस्वरूप उसे कृषि-उद्योग आदि के द्वारा अहिंसक जीवन जीने का मार्ग बताया। कुछ अज्ञानी इस भ्रम में हैं कि ऋषभदेव भगवान ने कृषि का जो मार्ग बताया, वह महारंभ और घोर पाप है। पर वे ऐसा कहकर बहुत भूल करते हैं। विवेक संयम और अनासक्तिपूर्वक सेवा-भाव से की गयी कृषि कभी भी महारंभ नहीं हो सकती, यह हमने पिछले अध्यायों में अच्छी तरह से स्पष्ट कर दिया है और यह भी स्पष्ट कर दिया है कि यदि कृषि महारंभ का काम होता तो ऋषभदेव कभी भी उसके लिए उपदेश नहीं करते। दुर्भाग्य से आज ऐसे लोग हैं जो यह कहने को उतावले हैं कि भगवान ऋषभदेव ने गृहस्थ-दशा में जो कुछ भी काम किया, वह सब संसार का काम था। उन कामों का धर्म से या आध्यात्मिक जीवन से कोई संबंध नहीं। यह कहना सचमुच में बड़ा अभद्र है कि ऋषभदेव द्वारा किये गये वे सभी काम जो गृहस्थवास के समय हुए, पापमय थे। तत्त्व चिंतकों और जैन शास्त्रों के विशेषज्ञों का यह मत है कि उन्होंने ऐसा कोई भी काम अपने जीवन में नहीं किया, जिससे धर्म मार्ग को कोई ठेस पहुंचती या अध्यात्मिकता में कमी आती। यह पापाचारका कथन केवल उन्हीं लोगों का है, जो जैन शास्त्रों की गहराई में न जाकर ऊपर-ऊपर से विषय का विश्लेषण करते हैं। वे अल्पज्ञ ही ऐसा कहते हैं कि यह तो भगवान का जीतकल्प था। उन्हें करना ही पड़ता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मैं पूछता हूं कि जिस तरह कृषि का उपदेश देना पड़ा, उसी तरह वर्षीदान भी क्या बलात् देना पड़ा ? ऐसा कहना सर्वथा अज्ञान का ही परिचायक है। हमारा यह स्पष्ट अभिमत है कि तीर्थंकर लगातार वर्ष भर दान देते हैं और इस रूप में वे जनता की बड़ी सेवा करते हैं। इस दान से उन्हें महान धर्म और आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति होती है। किन्तु कुछ लोग यह कहने का साहस करते हैं कि भगवान का दान देना, कृषि का उपदेश देना, राजा बनकर प्रजा का पालन करना इत्यादि समस्त कार्य सांसारिक हैं, अतः अधार्मिक हैं।

प्रगति का शास्त्र

●

इस प्रकार तीर्थंकरों के कर्तव्यों को, दान को, माता-पिता की सेवा को, जीव-रक्षा को, कृषि उद्योग आदि की व्यवस्था को वे पाप मानते हैं और ऐसा कहते हैं कि संसार से सर्वथा अनासक्त यानी निवृत्त होकर जीना ही केवल धर्म है। परन्तु इस विषय पर गंभीरता से सोचने की आवश्यकता है। अहिंसा जीवन की प्रगति का शास्त्र है। और यह प्रगति निरंतर आदर्श की ओर बढ़ती रहती है। यदि हम चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लेंगे तो हमें अहिंसा के मार्ग की जरूरत ही नहीं रहेगी। तब तो सिद्धि मिल चुकी रहेगी। परन्तु अहिंसा आदर्श को प्राप्त करने का साधन है। जीवन को जीने का माध्यम है। इसलिए अहिंसा की अवस्थाएँ तारतम्यमय होती हैं। शोषण और पशुओं की हिंसा एक ओर हो तथा दूसरी ओर फलाहार या कृषि का काम हो तो इन दोनों में कौनसा काम अहिंसा के अधिक निकट है, यह निर्णय करना होगा और उसी निर्णय के आधार पर हम यह सोच सकेंगे कि अहिंसा का काम कौनसा और हिंसा का काम कौनसा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस संदर्भ में हम यह भी नहीं मान सकते कि तीर्थंकर राजा बनते हैं तो उसमें भी उन्हें पाप होता है। हमें सोचना पड़ेगा कि वे राजा क्यों बनते हैं। क्या वे दुनिया का आनन्द लूटने के लिए, भोग-वासना में लिप्त होने के लिए और राजसी सुखों का आस्वादन करने के लिए राजा बनते हैं ? प्रजा में फैली हुई घोर अव्यवस्था को दूर करने के लिए, नीति मर्यादा कायम करने के लिए और समाज में व्याप्त कुरीतियों का उन्मूलन करने के लिए यदि वे राजा बनते हैं, तो पाप नहीं माना जा सकता। वे प्रजा के शोषक नहीं, पोषक थे, शासक नहीं, सेवक थे। उन्होंने सिंहासन को स्वीकार कर के प्रजा में होनेवाले अत्याचार, अन्याय और शोषण का प्रतिकार किया। इस महान् उपकारमय काम की ओर हम दृष्टि ही न डालें और आंख मूंदकर केवल इतना भर कह दें कि राजा बनना पाप है, इसलिए उन्होंने राजा बनकर अधर्म ही किया तो यह उचित नहीं होगा। यही तो दान, दया और कृषि के लिए भी लागू होता है। जब दान, दया और कृषि का काम ऋषभदेव, महावीर अथवा अन्य तीर्थंकरों ने किया उस वक्त वे अज्ञानी नहीं थे, साधारण मानव भी नहीं थे। उनके पास अद्भुत ज्ञान थे और वे भावी तीर्थंकर हैं, यह भी सर्वविदित था। तब भला वे ज्ञानी और भावी तीर्थंकर एकान्त पाप-कार्य में कैसे प्रवृत्त होंगे, यह सोचना चाहिए।

उपदेशक

●

अगर दान करना या कृषि करना पाप है, तो उसका उपदेश देनेवाला भी अवश्य ही पापी होगा। अगर कृषि महारंभ है, तो भगवान ऋषभदेव भी कृषि का उपदेश देनेवाले होने के कारण महारंभी थे और शास्त्र का कथन है कि महारंभी की गति नारकीय होती है। हमें मानना चाहिए कि कृषि महारंभ नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साधु का कर्तव्य

कुछ लोगों का ऐसा कहना है कि इन सांसारिक कामों की ओर संन्यासी, साधुओं को ध्यान नहीं देना चाहिए और मौन रखना चाहिए। परन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं। साधु समाज का मार्ग-दर्शक है तथा समाज को बताता है कि उसे किस रास्ते पर जाना चाहिए। अगर साधु ही मौन धारण करके बैठ जायेंगे और समाज का उचित मर्गदर्शन नहीं करेंगे, तो वे अपने कर्तव्य से च्युत ही होंगे। उन्हें मौन करने की जरूरत नहीं है। वे साफ-साफ बतायें कि समाज में किस प्रकार मनुष्य जीये? किस प्रकार वह हिंसा से धीरे-धीरे अहिंसा की ओर बढ़े? किस प्रकार वह रोजमर्रा के व्यवहार में अहिंसा का अवतरण करे? और किस प्रकार सामाजिक ऐक्य का निर्माण हो? अगर साधु के सामने सवाल आता है कि एक मिल-मालिक हजारों मजदूरों का शोषण कर के करोड़ों रुपयों का संग्रह करता है, या एक कसाई हजारों बकरे काटकर धन इकट्ठा करता है, उनमें और दिन भर कड़ी मेहनत कर के अन्न पैदा करनेवाले किसान में कौन व्यक्ति अहिंसा के अधिक निकट है? तो साधु को वहां मौन रहने की जरूरत नहीं है, बल्कि उसे वहां साफ-साफ बताना चाहिए कि शोषण करना, मजदूरों के हक को छीनना, निरीह पशुओं के प्राणों का अपहरण करना अनिष्टकारक है, घोर पाप है, तथा निंदनीय है और किसान का काम अहिंसा के निकट है। पाप में जितनी-जितनी कमी आयेगी, उतना-उतना ही धर्म का अंश बढ़ता जायेगा। कल्पना कीजिये, किसी आदमी को १०४ डिग्री ज्वर चढ़ा हुआ था। औषधि से या स्वभावतः वह दूसरे दिन १०० डिग्री रह गया। किसी ने उससे पूछा, क्या हाल है? तब वह कहता है कि अब आराम है। सहज ही प्रश्न उठता है कि जब १०० डिग्री ज्वर है तो आराम कहां से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आया ? परन्तु यह नहीं सोचते कि जितनी कमी हुई है उतना तो आराम हुआ है !

एक गृहस्थ श्रावक के आध्यात्मिक जीवन के साथ कृषि का सामंजस्य हो सकता है कि नहीं, इस प्रश्न का उत्तर हमें देना ही होगा। क्योंकि हमें सामाजिक जीवन की रीढ़, कृषि के बारे में घपला करने का अधिकार नहीं है। कोई-न-कोई एक निर्णय कर के यह बताना ही होगा कि कृषि अनिवार्य हिंसा और अल्पारंभ है अथवा निंद्य हिंसा और घोर आरंभ है।

जीवन में हिंसा तो अनिवार्य है उससे किसी तरह बचा नहीं जा सकता। यदि इस सत्य को कोई अस्वीकार करता है, तो उसका कोई तर्क माना नहीं जा सकता। जीवन संघर्ष में खेती, उद्योग आदि जो व्यापार चल रहे हैं, उनमें हिंसा है। जीवन-व्यवहार हिंसा से सर्वथा शून्य नहीं हो सकता। इसलिए अभी मानव के सामने हिंसा और अहिंसा में से एक मार्ग नहीं चुनाना है, बल्कि हिंसा से अहिंसा की ओर बढ़ने का मार्ग चुनना है। जहां तक अनिवार्य हिंसा का प्रश्न है, वहां तक हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि साधु भी पूर्णतः अहिंसा का व्रत नहीं निभा सकता। क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या आदि जो आन्तरिक हिंसा रूप दोष हैं, वे जल्दी ही साधु का भी पिण्ड नहीं छोड़ते। इसके अलावा जो मोटी हिंसा गृहस्थ करता है, उसके साथ भी किसी-न-किसी तरह का का लगाव साधु का होना संभव है, जब इस धरती का जीवन इतना हिंसा-संकुल है, तब पूर्ण अहिंसा की बात करना न तो उचित है और न व्यावहारिक है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तम्बाकू की खेती

अब प्रश्न उठता है कि तम्बाकू की खेती करना अल्पारंभ है या महारंभ है ?

यह प्रश्न साधारण खेती के संबंध में नहीं, बल्कि तम्बाकू जैसी नशीली खेती के संबंध में है। तम्बाकू मानव-जीवन के लिए अनिवार्य वस्तु नहीं है। बल्कि वह मानव-स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद है और अन्नोत्पादन में बाधक है। आदमी लोभवश अन्न की खेती को छोड़कर तम्बाकू की खेती करता है और उससे धन-संग्रह कर के विलासमय जीवन जीना चाहता है इसलिए यह किसी भी दृष्टि से उचित कार्य नहीं है। जिस चीज के उत्पादन से देश का स्वास्थ्य बिगड़ता हो और जिस चीज के उत्पादन से भूखे मानव के लिए आवश्यक अन्न के उत्पादन में बाधा पड़ती हो और जिस चीज का उत्पादन मानव की लोभवृत्ति को जगाने वाला हो, वह काम अनुचित और निंदनीय होता है।

मैंने कुछ प्रदेशों में देखा है और सुना है कि वहां के लोग जानबूझकर तम्बाकू जैसी चीजें पैदा करते हैं और अन्न बाहर के प्रदेशों से मंगवाते हैं। यह अनुचित लाभ कमाने की प्रवृत्ति का द्योतक है।

पाप का या हिंसा का संबंध जीवों की गिनती के साथ नहीं, बल्कि मानव के साथ है। जहां तम्बाकू का प्रश्न आता है, वहां पर भी हमें भावना की बात मुख्य रूप से सोचनी चाहिए। तम्बाकू की खेती में मानव की भावना दूषित रहती है, स्पष्ट ही अनुचित लाभ कमाने की वृत्ति रहती है इसलिए वहां भावनाओं का दोष आ जाता है। हम अन्न या अन्न जैसी उपयुक्त कृषि को ही अल्पारंभ साबित कर रहे हैं, क्योंकि उनमें भावना का निर्मल स्रोत प्रवहमान है। कृषि करते समय किसान की भावनाएं आवश्यकता पूर्ति की होते हुए भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वे निर्दयतापूर्ण नहीं होतीं। जीवन का सहज कर्म और कर्तव्य समझकर ही एक किसान खेती का काम करता है।

इन सब विभिन्न दृष्टियों से सोचने पर हम इसी नतीजे पर पहुंचते हैं कि मानव का जीवन अहिंसा की ओर बढ़े, इसके लिए कृषि पहला चरण है। परन्तु हमें कृषि तक आकर सीमित नहीं हो जाना चाहिए; बल्कि आगे भी इसकी खोज जारी रखनी चाहिए कि क्या कोई ऐसा उपाय भी प्राप्त हो सकता है, जिससे न तो मनुष्य का शोषण करना पड़े, न पशुओं का वध करना पड़े और न अन्य देशों या जातियों पर हावी होना पड़े। साथ ही कृषि से होनेवाली हिंसा से भी बचा जा सके और फिर भी जीवित रहा जा सके। इस दिशा में जब वैज्ञानिक पद्धति से खोज होगी, तभी संभवतः कोई उचित उपाय निकल सकेगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मांसाहार का, अन्य कई कारणों के साथ-साथ एक मुख्य प्रयोजन यह भी है कि ठंडे मुल्कों में, पहाड़ी मुल्कों में और जंगली प्रदेशों में जो बहुसंख्यक मानव समाज रहता है उसे अन्न उपलब्ध नहीं हो सकता, वहां खेती भी संभव नहीं लगती और वहां के वातावरण में मांस जैसी गर्मी देने वाली वस्तु के बिना काम नहीं चल सकता। इस समस्या का हल शाकाहार के द्वारा कैसे हो सकता है, इसके अनुसंधान का प्रयत्न नहीं हुआ। यह कमी हमें हमारी ही कमी माननी होगी। यद्यपि यह वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा सिद्ध हो चुका है कि स्वास्थ्य के लिए मांस से अधिक शाकाहार ही उपयोगी है, और निर्दोष है। जिन पशुओं का मांस खाया जाता है वे पशु भी लगभग शाकाहारी होते हैं। शाकाहारी पशु का मांस अगर मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए शक्तिशाली और लाभदायक हो तो मांसाहारी पशुओं का मांस तो और भी लाभदायक होना चाहिए; किन्तु यह पाया जाता है कि मांसाहारी पशुओं का मांस मनुष्य के लिए उपयोगी नहीं होता, उसमें एक प्रकार का जहर भरा होता है, फिर यह बात भी ध्यान देने लायक है कि फल, अन्न और तरकारियां जल्दी से खराब नहीं होती, जबकि मांस तुरन्त खराब हो जाता है। उसमें कीड़े पड़ जाते हैं और बासी मांस बदबू देने लगता है। ऐसी हालत में भी शाकाहर के बजाय मांसाहार अधिक प्रचलित है तो उसका क्या कारण है? हमें उन कारणों की खोज करनी चाहिए, जिन कारणों से आज मांसाहार को प्रश्रय मिला हुआ है।

अव्यक्त समर्थन

●

एक कसाई पांच रुपये के लाभ के लिए बीस रुपये की गाय को मारता है तो वह केवल मांस के लिए नहीं मारता, उसके इस काम से उसे उन लोगों का समर्थन भी मिलता है जो मांसाहारी नहीं है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शाकाहार का प्रश्न

अहिंसा के विश्लेषण की दिशा में जैन चिंतकों ने जिस सूक्ष्मता का दर्शन किया, सम्भवतः इतिहास में बहुत कम चिंतक ऐसे हुए हैं, जो उस सूक्ष्मता तक पहुंचे हों; परन्तु मध्यमयुग और वर्तमान युग के जैन विद्वान परिस्थिति के प्रवाह में कुछ शिथिल हो गए और उनसे प्रत्यक्ष रूप में अहिंसा की साधना और अहिंसा के प्रयोग का क्षेत्र विकसित नहीं किया जा सका।

यही कारण है कि जैन धर्म के आदि-प्रवर्तक ऋषभदेव ने कृषि के माध्यम से मांसाहार के स्थान पर शाकाहार का जो सिद्धांत प्रस्तुत किया वह सिद्धांत आज विश्वव्यापी नहीं बन सका है। यदि हम लोग अहिंसा के प्रत्यक्ष प्रयोगों में लगे रहते और मांसाहारी मानव समाज को शाकाहारी बनाने में सफल हो सकते तो इस सृष्टि का रूप आज दूसरा ही होता।

मांसाहार करने वालों पर मांसाहार की जितनी जिम्मेदारी है, उससे कहीं अधिक जिम्मेदारी उन लोगों पर है, जो स्वयं शाकाहारी होते हुए भी मांसाहारियों को शाकाहारी होने के लिए प्रभावित नहीं कर सके। शाकाहारी जीवन में श्रद्धा रखने वालों का यह कर्तव्य है कि वे शाकाहार की उपयोगिता पर नई खोज करते तथा उसके अनुसार यह सिद्ध कर देते कि मांसाहार न केवल निरर्थक और अनावश्यक है बल्कि नुकसानदेह भी है और मांसाहार के बिना भी इस संसार की खाद्य-समस्या का हल हो सकता है। इस तरह के क्रियात्मक ढंग से यदि हमने मांसाहार के विरुद्ध वातावरण तैयार किया होता ता निश्चय ही संसार के बहुसंख्यक लोग शाकाहार की वास्तविकता का तत्त्व समझ लेते।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर चमड़े का व्यवहार करते हैं। जिन्दी गायों के चमड़े से बने हुए जूते, वेग, घड़ी के पट्टे आदि का निर्माण होता है और इन वस्तुओं का प्रयोग मांसाहारी या बिना मांसाहारी सभी करते हैं। इस प्रकार शाकाहार को प्रश्रय देने वाले भी उपरोक्त ढंग की हत्या के साझीदार बन जाते हैं, इसलिए सर्वप्रथम निरामिष प्रजा को जागृत होने की आवश्यकता है।

शाकाहार का प्रश्न केवल आहार से सम्बन्ध नहीं रखता, बल्कि वह जीवन के विकास से भी सम्बन्ध रखता है। यह प्रश्न बहुत व्यापक है और इससे मानव के मौलिक धर्म का सम्बन्ध है। आत्मा का सही विकास इसी दिशा में हो सकता है कि वह अपने आसपास के प्राणियों से अपना सम्बन्ध उत्तरोत्तर बढ़ाता जाय और उनका प्रेम हासिल करता जाय। यही धर्म का लक्षण है, और यही विकास का रास्ता है। जितना हमारे प्रेम का दायरा बढ़ता जाय, मनुष्य तक ही सीमित न होकर सभी प्राणियों तक हमारी सहानुभूति विकसित होती जाय उतना ही मानव का मौलिक धर्म सिद्ध हो सकता है। धर्म का विस्तार करुणा के विस्तार से ही संभव है इसलिए शाकाहार का प्रश्न खाद्य-समस्या से जितना सम्बन्ध रखता है उससे कहीं अधिक आत्म विकास से सम्बन्ध रखता है।

आदमी के सभ्य और सुसंस्कृत होने का मापदण्ड क्या है, इस प्रश्न के उत्तर में विद्वानों ने कहा है कि मनुष्य की आत्मा में सहानुभूति का तत्त्व जितना अधिक विकसित होगा उतना ही वह सुसंस्कृत एवं सभ्य माना जायेगा। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संत श्री एकनाथ के बारे में यह प्रसिद्ध है कि एक बार वे कीर्तन में लगे थे और मन्दिर के बाहर किसी किसान ने भैंसे के न चलने के कारण उसे कोड़े से मारा। जब उसका आर्त्तनाद मन्दिर के अन्दर पहुंचा तो संत एकनाथ की पीठ पर वे कोड़े के निशान उभर आए। यह कहानी सहानुभूति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की उत्कृष्टता का एक नमूना है। जब मानव हृदय में सहानुभूति का चरमोत्कर्ष होता है तब वह प्राणिमात्र से किस तरह सम्बन्धित हो जाता है, यह इस उदाहरण से स्पष्ट है।

भारतवर्ष शाकाहार का सबसे बड़ा संदेश-वाहक रहा है। आज भी शाकाहार के सम्बन्ध में सबसे अधिक सोचने वाले और शाकाहारी जीवन बिताने वाले भारत में सबसे अधिक हैं। यहां हजारों वर्षों से जो प्रयोग चल रहा है, वह इस बात का प्रमाण है कि हमने समझ-बूझ पूर्वक इसे स्वीकार किया है और शाकाहार हमारा एक महत्त्व का कदम है। पर इस देश में भी मांसाहार को बढ़ाने की कोशिश जिस बेशर्मी के साथ हो रही है, वह आश्चर्य जनक है। मांसाहार के प्रचार के लिए ताकत लगाने की क्या आवश्तकता है, वह तो दुनिया-भर में चल ही रहा है। उसको प्रोत्साहन देने के लिए जगह-जगह नए, वैज्ञानिक ढंग के, कत्ल-खाने बनाना या मछली पालन, मुर्गी पालन आदि को तवज्जोह देना, विदेशी सरकारों द्वारा चलाई जाने वाली विकास योजनाओं की भोंडी नकल मात्र है। भारत ने तो सारे विश्व को शाकाहार का सन्देश दिया, इसलिए उसी सन्देश को फिर से जागृत करने की आवश्यकता है। अगर वैसा करने की शक्ति इस देश में नहीं है तो कम-से-कम अपने इतिहास के मुंह पर कालिख पोतने का प्रयत्न तो न करें।

आज का प्रगतिशील मानव, जो मानवमात्र की समानता का सिद्धांत मानता है और सामाजिक-न्याय के लिये प्रयत्नशील है, अपने से कमजोर प्राणियों के प्रति इतना क्रूर हो सकता है तो वह कैसा प्रगतिशील है, यह समझ में नहीं आता। कितने मृतक जीवों को भोजन के रूप में काम में लाया जाता है, कितनों को मारकर दवाई और फैशन के सामान के रूप में काम में लाया जाता है, हार्दिक वेदना के साथ हम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह देख रहे हैं कि संसार के अधिकांश घर, मरे हुए जानवरों के स्थान बन गए हैं; और अधिकांश पेट कत्ल किये हुए जानवरों के कब्रगाह बन गए हैं। ऐसी स्थिति में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का पवित्र सिद्धांत स्वयं खत्म हो जाता हैं। 'सर्वभूतिहिते रता:' की हमारी वाणी को मिटा दिया गया है और आज भारतीय सरकार मुर्गी और अण्डों के विकास से जो लोगों को मांसाहार की ओर ले जा रही है वह ऋषियों महर्षियों की हज़ारों साल की उस साधना पर पानी फेर रही है, जिस साधना ने मानवीय करुणा का तत्त्व पहचाना और जिस साधना ने यह घोषणा की कि समस्त पृथ्वी में एक ही तत्त्व है, अद्वैत है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अहिंसा—अतीत और वर्तमान

आप इतिहासकारों द्वारा निर्दिष्ट उस आदिम युग की कल्पना कीजिये जिसमें अर्ध-नग्न मानव जंगलों में, पहाड़ों में और गुफाओं में रहता था एवं शिकार के आधार पर अपना निर्वाह करता था; मानव की इस स्थिति के साथ आज के स्पुतनिक-युग के मानव की तुलना करते समय हम देखते हैं कि प्रगति की दिशा सम्पूर्ण विश्व को अहिंसा के मार्ग की ओर बढ़ाए जा रही है।

जब ऋषभदेव ने मनुष्य-जीवन को अधिकाधिक सात्विक बनाने के उपायों की खोज की और मांसाहार का पर्याय ढूंढ़ने में शक्ति लगाई तो "कृषि" का आविष्कार हुआ। यह आविष्कार निश्चय ही एक चमत्कार था। ठीक वैसा ही चमत्कार, जैसा आज अणु प्रयोग, एवरेस्ट विजय और चन्द्र-यात्रा की सफलताएं चमत्कार की श्रणी में आ रही हैं! "जमीन मानवता का रक्षण एवं पोषण करने में समर्थ है, इसलिए 'श्रम' करो।" यह उद्घोष अहिंसा का महान् सूत्र साबित हुआ! जब "श्रम" अहिंसा का प्रतीक बना, तब भूखों मरते पथ-भ्रष्ट मानव ने तीर-कमान को दूर फेंक दिया और हल एवं हंसिया लेकर मैदान में आया। किसी के खून का प्यासा होकर भटकने वाला मानव सन्तोष और शान्ति के साथ "श्रम ही पूजा है" का मन्त्र गुन-गुनाने लगा! अहिंसा के इतिहास के सबसे बड़े अन्वेषक और सबसे बड़े नेता ऋषभदेव थे, यह कृषि के आविष्कार ने साबित कर दिया!

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रौंच-पक्षी पर दयार्द्र हो उठने वाला डाकू, वाल्मीकि, जिस दिन ऋषि बना उस दिन अहिंसा के भाल पर फिर से सिंदूर चढ़ा और सहसा कारुण्य भाव का बीज मानवीय चेतना की छाती से फूटा। उच्च सांस्कृतिक प्रेरणा के रसानुभव ने कवि को मुखर बना दिया और अहिंसा की रसधारा में सराबोर कर दिया। उसके बाद सारा इतिहास भले ही खून से लिखा गया हो और हर युग में युद्ध, मार-काट, आक्रमण एवं दिग्विजय की कहानियां भरी हों लेकिन बावजूद इन सब हिंस्र घटनाओं के अहिंसा का पौधा फलता-फूलता रहा।

महर्षि वाल्मीकि भावनात्मक अहिंसा के प्रतीक बन कर आए तो भगवान् ऋषभदेव वास्तविक एवं क्रियात्मक अहिंसा के प्रणेता के रूप में अवतरित हुए।

अहिंसा के प्रतिनिधि

यज्ञ, पशुबलि और दास-प्रथा के रूप में जब शोषण का दौरदौरा चल रहा था, तब अहिंसा को नया वेग, नया प्राण एवं नई परिभाषा देने के लिए महावीर और बुद्ध ने सम्पूर्ण मानव-जाति को दया एवं करुणा का संदेश दिया "सव्व जग जीव रक्खण दयट्ठयाए भगवया सुकहियं पवयणं।" अर्थात् समस्त प्राणिजगत की रक्षा के लिए दया और करुणा का प्रवचन-भगवान् ने किया। वह एक ऐसा युग था, जब मानव-शोषण, समाज में अपराध नहीं माना जाता था। मनुष्य को खरीदा-बेचा जाता था। दास बनाया जाता था। गुलामी को मानवीय कर्तव्य करार दिया गया था। बुद्ध और महावीर ने उस युग में अपने-अपने ढंग से अलौकिक काम किया और सारे समाज में एक व्यापक क्रांति की लहर फैला दी। इस तरह की अहिंसक क्रांति का आंदोलन सारे इतिहास में अन्यत्र दुर्लभ ही है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महावीर बुद्ध-युग और ऋषभदेव-युग के बीच में रामायणकाल एवं महाभारत-काल भी अहिंसा की दृष्टि से विशिष्ट महत्त्व रखता है। हालांकि महाभारत के युद्ध ने देश की साहित्यिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक एवं कलात्मक उपलब्धियों को बहुत बड़ी चोट पहुंचाई तथा भयानक नर-संहार ने अहिंसा के इतिहास को धूमिल जैसा ही कर दिया; परन्तु इस युद्ध के बाद सारा देश यह समझ गया कि हिंसा और युद्ध कितनी जहरीली चीज है और उसके दुष्परिणाम कितने भयंकर होते हैं।

अहिंसा के क्रियात्मक प्रयोग भिन्न-भिन्न रूपों में पिछले दो हजार वर्षों में बराबर होते रहे हैं और महावार एवं बुद्ध के अनेक विद्वान् उत्तराधिकारियों ने इन प्रयोगों को विकसित किया है। उनमें सबसे उज्ज्वल नाम चन्द्रगुप्त, अशोक, हर्षवर्धन और कुमारपाल का है। सम्राट् अशोक ने कलिंग युद्ध के बाद युद्ध के जिस भयावने रूप का दर्शन किया उससे उनका हृदय द्रवित हो उठा और परिणामस्वरूप वे अहिंसा की उस ऊंची भूमिका पर पहुंच गये कि अपने राज्य की सारी शक्तियों को उन्होंने बुद्ध के मानवीय संदेशों का प्रचार करने के लिए जुटा दिया। उन्होंने जगह-जगह लोक-सेवा के आश्रम स्थापित किये। यात्रियों के लिए पानी पीने के स्थान बनाये। मृगदावों की स्थापना के रूप में पशु-वध का निषेध किया। सड़कों पर पेड़ लगाये। भूखों के भोजन का प्रबन्ध किया। जेल में बन्द अपराधियों को मुक्त कर के उनके सुधार की योजनाएं बनाई। अहिंसा के उत्कर्ष के लिए हर संभव प्रयत्न किया। सम्राट् चन्द्रगुप्त, हर्षवर्धन और कुमारपाल आदि की सेवाएं भी भारतीय इतिहास के अत्यन्त हृदयग्राही उज्ज्वल पृष्ठ हैं।

मुस्लिम साम्राज्य के काल में भी अकबर एक ऐसा महान् सम्राट् हुआ, जिसने धर्म के भेदों से ऊपर उठकर कुछ ऐसे काम किये और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लोक-सेवा के आयोजन किये, जिन्हें देखकर उसके हृदय में बसे कारुण्य की कल्पना की जा सकती है।

दुर्भाग्य-सद्भाग्य

परन्तु दुर्भाग्य से अधिकांश राजाओं और सम्राटों ने अपनी साम्राज्यवादी हविश को पूरी करने में ही समय गंवाया। लोक-सेवा के प्रयत्न कम हुए और साम्राज्य-विस्तार के प्रयत्न ज्यादा हुए। सिकन्दर और औरंगजेब जैसे अनेक सम्राटों ने व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं के सामने देश की गुण-विकास की योजनाओं को चकनाचूर कर दिया।

परन्तु लिंकन जैसे सम्राट् भी हुए और उन्होंने एक साधारण गुलाम-जीवन में जीकर भी समाज में उत्क्रांति की तथा वर्बर एवं हिंस्र गुलाम-प्रथा का खात्मा किया। यह एक विवादास्पद बात है कि मार्क्स ने जिस दर्शन का सूत्रपात किया उसका महत्त्व अहिंसावादियों के दृष्टिकोण में है या नहीं ? जार-शासन में जो दमन-चक्र चल रहा था और जिस बीभत्स शोषण के काले बादल मंडरा रहे थे, उसके खिलाफ विद्रोह की आग भड़काना हिंसा है या अहिंसा ? यह ठीक है कि कम्युनिज्म में साधनों की शुद्धि पर बल नहीं दिया गया है, परन्तु साध्य की शुद्धि को तो ध्यान में रखा ही गया है। गरीबी पाप है, इसका सबसे पहला राजनैतिक क्षेत्र में उद्घोष कर के मार्क्स भी अनेक अहिंसावादियों की दृष्टि में करुणा मूर्ति महर्षि वन गये हैं ! विनोवा और दादा धर्माधिकारी जैसे अहिंसावादियों ने भी मार्क्स को महामुनि स्वीकार किया है। हालांकि मार्क्स के वाद रूस में जिस तरह से उनके सिद्धान्तों का प्रयोग हुआ, उसका पूर्ण समर्थन नहीं किया जा सकता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रिंस क्रोपाटकिन, टाल्स्टाय एवं बर्नार्ड शॉ जैसे चिंतकों ने और बर्ट्रेण्ड रसेल जैसे दार्शनिकों ने सारे योरप में जिस तरह से अहिंसा के विभिन्न पहलुओं का उद्घाटन किया और रस्किन ने "ऑन टू दी लास्ट" में जिस प्रकार सर्वोदय विचार का बीजारोपण किया, उसका अहिंसावादी प्रवृत्तियों के इतिहास में गौरवपूर्ण स्थान है। यूनान, रोम और मिश्र तथा एशिया के दूसरे विभिन्न देशों के अनगिनत विचारकों ने मानवीय चेतना के जागरण का मधुर शंख फूंका एवं मानवीय-शांति का सूत्र दिया !

हिन्दुस्तान में महर्षि दयानंद ने वेदों का अहिंसात्मक विवेचन कर के सभी पुराण-पंथी पंडितों के गुरुडम को हिला दिया और सारे देश में एक तहलका-सा मचा दिया, अपने में इतिहास की यह पहली घटना थी कि किसी चिंतक ने अश्व-मेध आदि शब्दों का अर्थ अहिंसा परक किया हो। इन यज्ञों का विरोध तो पहले भी हुआ, पर अर्थ-परिवर्तन की यह क्रांति निश्चय ही अभूतपूर्व थी।

गांधी

●

इस पृष्ठभूमि के प्रकाश में चमकता हुआ सब से नजदीक का जाज्वल्यमान नक्षत्र है—मोहनदास करमचंद गांधी ! जिसने अहिंसा के आज तक के विकास को नया मोड़ दिया। हिंसा की जो व्याख्या सीमित कटघरों में बंध गई थी, उसे उन्होंने व्यापक-क्षेत्र प्रदान किया। पुराने शास्त्रों, रूढ़ियों तथा परंपराओं में बंधी बंधाई अहिंसा को उन्होंने नये स्वर दिये। बिना रक्तपात के आजादी की लड़ाई का अमोघ उपाय बताया। "श्रम" को पुनः प्रतिष्ठित किया। शोषण और छल के विरोध में सात्विक जीवन का मार्ग बताया। असहयोग अथवा सविनय अवज्ञा का एक ऐसा अहिंसक रास्ता खोज निकाला कि गुलामी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की जंजीरें भी टूट पड़ीं। सत्याग्रह के सिद्धान्त का आविष्कार तो इस युग के अहिंसावादी तत्त्वों के लिए वरदान ही बन गया।

इस प्रकार अहिंसा का समुज्ज्वल इतिहास हमारे सामने है। अतीत के सन्तों की परंपरा में तुलसी और कबीर की कविता ने, मीरा और सूर की भक्ति ने, करुणा की अजस्र धाराएं बहाई हैं। यद्यपि आज भी हिरोशिमा और नागासाकी पर किया गया बम-प्रयोग मानव में स्थित पशुता के अस्तित्व का भान कराता है, परन्तु कहां तो वह आदिम-युग, जब मानव को अहिंसा के आदर्श का ज्ञान तक नहीं था और कहां आज का सत्याग्रह-युग जब मानव शासन-मुक्त और संस्था-मुक्त होकर संपूर्ण विश्व की एकता का सपना देख रहा है। इसलिए निश्चय ही अहिंसावादी शक्तियों का भविष्य बहुत उज्ज्वल है।

सम्प्रदायों की ओर से हिंसा को प्रोत्साहन

धर्म संप्रदायों की स्थापना जीवन के उन ऊंचे आदर्शों के लिए की गई, जिनके प्रचार से सम्पूर्ण मानव-जाति का विकास हो सकता था। परन्तु आज की धर्म-सम्प्रदायें उन ऊंचे आदर्शों को भूल गई हैं और अपने-अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए घृणित-से-घृणित काम करने में भी हिचकिचाती नहीं हैं।

आज के दूषित और विषाक्त वातावरण की काफी जिम्मेवारी मजहबी मदारीपन पर ही है। जिस ऊंचे और पवित्र धर्म ने महान् सिद्धान्त के रूप में अहिंसा, एकता और प्रेम का प्रतिपादन किया, उसी धर्म को नेस्तेनाबूद करने के लिए आज की पंथ-परंपरा कटिबद्ध-सी दीख पड़ती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुस्लिम संप्रदाय

यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि हिंसा का अर्थ केवल जीव-हत्या या प्राण-व्यपरोपण ही नहीं है। समाज में कलह, द्वेष, ईर्ष्या, फूट, वैमनस्य और मनमुटावों को पैदा करने वाली प्रवृत्तियां भी पूर्णतः हिंसा है और भयंकर हिंसा है। इस तरह की भावात्मक हिंसा को प्रोत्साहन देने में पंथवाद और सम्प्रदायवाद ने बहुत काम किया है। इतिहास साक्षी है कि हिन्दू धर्म और मुस्लिम धर्म के भेद ने समाज का कितना बड़ा अहित किया है। ये दोनों धर्मावलम्बी आज दुर्भाग्य से एक-दूसरे के जानी दुश्मन बन गये हैं और हर सम्भव तरीके। एक-दूसरे के धर्म को अथवा धर्मजन्य जाति को नीचा दिखाने के प्रयत्न में रहते हैं! हम ज्यादा विस्तार में न जाकर केवल औरंगजेब का उदाहरण ही देख लें। औरंगजेब एक पक्का मुसलमान था और उसने अपने धर्म के प्रचार के लिए हिन्दुओं, जैनों और बौद्धों पर समान अत्याचार किया। उसने हजारों, लाखों पुस्तकें जला डालीं। अनगिनत मंदिर और मूर्तियां तुड़वा डालीं। सैकड़ों बेबस बहू-बेटियों की इज्जत के साथ खिलवाड़ हुआ। उसका कहना यही था कि मैं धर्म के प्रचार का महत्त्वपूर्ण काम कर रहा हूं और मेरा धर्म तलवार के बल पर ही फैल सकता है। पर सचाई क्या है? क्या कहीं सच्चे इस्लाम धर्म में इस तरह के अत्याचार के लिए तनिक भी गुंजाइश है? क्या कुरान में इस तरह के पाप के लिए तिलमात्र को भी स्थान है? नहीं! परन्तु मजहब के नशे ने धर्म की सच्चाई को ढक लिया।

दूसरा सब से ताजा उदाहरण पाकिस्तान का है। क्या हिन्दुस्तान के दो टुकड़े होने से इस्लाम धर्म बच गया? "इस्लाम खतरे में" का नारा देने वाले बतायें कि क्या अब इस्लाम सुरक्षित है? पाकिस्तान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उन हजारों मासूम बच्चों और कोमलांगी बहनों के खून पर खड़ा है, जिनको नग्न करके बेइज्जत किया गया और तड़पा-तड़पा कर मार डाला गया। भरी-की-भरी गाड़ियां काट डालीं गयीं। कुएं लाशों से भर गये और लाखों मानव बेघरबार तथा बेसहारा हो गये। परन्तु इस्लाम की रक्षा का दम भरने वाले खुश होते रहे और वह कहते रहे कि हम पाकिस्तान लेकर ही मानेंगे। पाकिस्तान की प्रतिक्रिया में इधर भारत में भी हिंसा की लहर दौड़ी और मानव मानव न रहकर दानव बन गया।

जैन संप्रदाय

●

ये दोनों उदाहरण मजहबी कटुता और पंथवादी हिंसा के बेजोड़ उदाहरण हैं। परन्तु इस पाप के भागी केवल हिन्दू-मुसलमान ही नहीं हैं। आज जैन धर्म के अनुयायियों में भी संप्रदाय के नाम पर कितना वैमनस्य चल रहा है, यह प्रतिदिन का आंखों देखा दृश्य है, सम्मेद शिखर पर श्वेतांबरों का अधिकार हो या दिगंबरों का ? इस प्रश्न को लेकर लाखों रुपये खर्च किये गये। सरकार से न्याय की भीख माँगी गयी और व्यर्थ का विवाद बढ़ाकर जग हंसाई का कारनामा रचा गया। मूर्तियों के नाम पर तथा मंदिर के नाम पर एक नहीं, बल्कि आये दिन अनेक झगड़े होते रहते हैं और आपसी वैमनस्य के बीज बोए जाते हैं। तेरापंथी कहते हैं कि सिवाय हमारे साधुओं के अन्य सब कुपात्र हैं, अतः किसी भी अन्य संप्रदाय के साधु या गृहस्थ को दान देना पाप है। यह भी क्या विचित्र उपहासास्पद संप्रदायवाद है ? स्थानकवासियों की दशा भी कुछ कम विचित्र नहीं है। कुछ साधु तथा श्रावक अत्यन्त हीन भाषा में असंयत और हिंसक तरीकों से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक-दूसरे के प्रति आक्षेप, निन्दा एवं छींटाकशी करते रहते हैं। किसी भी साधु के पास जाइए, वह प्रायः अपनी तारीफ करेगा और दूसरों की निन्दा करेगा। मूर्ति-पूजक परम्परा में तो सहसा यह पता ही नहीं चलता कि कितने भेद-प्रभेद हैं। खड़तरगच्छ, तपागच्छ, तीन-थुई, चार-थुई और न जाने किस-किस नाम से झगड़े खड़े किये गये हैं। हमारे यहां कभी लाउडस्पीकर के नाम से, कभी संवत्सरी की तिथि के नाम से, कभी छोटी-बड़ी मुखपत्ती के नाम से, और कभी किसी दूसरे ही अजीवोगरीव नाम से रोज झगड़े होते रहते हैं।

आर्य-समाजी और ईसाई मानो एक-दूसरे के विरोध के लिए ही पैदा हुए हैं। जब देखो, एक-दूसरे के खिलाफ जहर उगलते रहते हैं। हिन्दू धर्म के अनेक फिरके हैं। ये सब आपस में एक-दूसरे के विरोधी हैं और दूसरों के विरुद्ध समाज को भड़काते रहना ही अपना सबसे बड़ा धर्म समझते हैं। इसी तरह ईसाई धर्म में कैथालिक और प्रोटेस्टेंट हैं। योरप में इन दोनों पंथों ने इतना वैमनस्य और द्वेष खड़ा कर रखा है कि जिसे देखकर दांतों तले उंगली दबानी पड़ती है और यह कहने को मन नहीं मानता कि उनमें कुछ भी धर्म के गुण शेष रह गये हैं। जिस प्रेम का पैगाम ईसामसीह ने दिया उसे भूलकर आज उसी धर्म के अनुयायी संसार में हिंसा और अशांति को प्रोत्साहित कर रहे हैं।

यही हालत बौद्धों में हीनयान तथा महायान की है। एशिया के जिन देशों में बौद्ध धर्म अधिक प्रचलित है, वहां के लोग अक्सर यह कहते हैं कि भगवान बुद्ध ने करुणा और सौहार्द का जो रास्ता दिखाया उसकी जगह हम सांप्रदायिक अभिनिवेश में फंसकर क्रूर मानसिक हिंसा के शिकार होते जा रहे हैं।

कहां तक इन संप्रदायों के वैमनस्य की कहानी बताई जाय। यदि कोई ध्यान से अध्ययन करेगा तो उसे यही दिखाई देगा कि इन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पंथों के आचार्यों एवं संचालकों के सामने धर्म का उद्देश्य गौण हो गया है और अपने पंथ के अस्तित्व की रक्षा का प्रश्न ही मुख्य है। इसीलिए आज धर्म पर से युवकों की आस्था हिल रही है और बुद्धिवादियों का एक बहुत बड़ा तबका धर्म का विरोधी बनता जा रहा है। ऐसी स्थिति में इस बात की परम आवश्यकता है कि सभी धर्मों के लोग आपस में मिलें। भाईचारा बढ़ाएं। विभिन्न समस्याओं पर विचार विनिमय करें और आपस में एकता, प्रेम एवं सौहार्द जागृत करें। यही सच्ची सांस्कृतिक और मानवीय प्रेरणा है और यही सूक्ष्म भावात्मक अहिंसा का मार्ग है। अन्यथा जो पंथ अहिंसा के प्रचार के लिए कायम हुए, वे हिंसा एवं कलह के प्रचारक बन जायेंगे।

अहिंसकों की गतिविधियां

आज दुनिया में हिंसा और अहिंसा का मुकाबला है, पर हिंसक-शक्तियां भी अहिंसा का नकाब पहन कर सामने आती हैं। वे खुलकर प्रगट होने से डरती हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि अब दुनिया भर के लोगों की श्रद्धा हिंसा पर से हिल गई है और आज का जन-मानस अहिंसा पर दृढ़ आस्था के साथ जीना चाहता है। यह शुभ लक्षण है।

अमेरिका के राष्ट्रपति श्री केनेडी ने "ह्वाइट हाउस" में पिछले दिनों कहा कि "अमेरिका रूस के साथ मैत्री चाहता है और वह प्रियता का वातावरण तैयार कर रहा है।" इस कथन के दूसरे ही दिन अखबारों में यह समाचार प्रगट हुआ कि केनेडी ख्रुश्चोव से मिल रहे हैं और ख्रुश्चोव ने कहा कि अब यदि हम हिंसा का रास्ता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छोड़ने के लिए तैयार नहीं होंगे तो दुनिया की समृद्धि तथा तरक्की खतरे में पड़ जायेगी। आखिर विश्व-राजनीति को हिलाने वाले खिलाड़ी-द्वय आपस में मिले और इसी निष्कर्ष पर पहुंचे कि हिंसा का खौफनाक मार्ग न अपनाया जाय तथा दोनों देश मिलकर संपूर्ण विश्व में शांति की स्थापना के लिए सम्मिलित प्रयत्न करें।

हालांकि आज भी हवा में अहिंसा की खुशबू विद्यमान है, पर धरती का कण-कण हिंसा के धमाकों से कंपित भी है।

पिछले दिनों अहिंसावादियों के लिए सब-से-बड़े सिर दर्द दो देश थे। कांगो तथा अंगोला। कांगो में जिस तरह निर्दयतापूर्वक महान लुमुंबा की हत्या की गई, वह इतिहास में घृणा, मूर्खता और ईर्ष्या का कलंकित पृष्ठ बना कर रह जाएगी। साम्राज्यवादी लोभियों ने सत्ता और धन के लोभ में जिस हैवानियत का परिचय दिया, उससे न केवल अहिंसावादी बल्कि स्वयं साम्राज्यवादी भी चकित रह गए और संयुक्त राष्ट्र-संघ में सभी ने एक स्वर से इस दुर्घटना की निंदा की।

अंगोला में जिस प्रकार साम्राज्यवादी मशीनगनों ने बेपनाह तथा निःशस्त्र हजारों अफ्रीकियों को भून डालने की गुस्ताखी की थी वह निःस्संदेह अहिंसावादियों के लिए चिंता की बात थी और इससे अहिंसा का जो विचार काफी दूर तक आगे बढ़ा था, वह वापिस पीछे की ओर धकेल दिया गया। लंदन के वामपंथी साप्ताहिक "न्यू स्टेट्समैन" ने घोषणा की है कि करीब ३५ हजार निहत्थे अफ्रीकी मौत के घाट उतार दिये गये। दक्षिण पंथी साप्ताहिक "स्पेक्टेटर" और स्वतंत्र साप्ताकि "इकोनोमिस्ट" का भी यही कहना है कि अफ्रीकी लोग बिना भेद-भाव के कुचल दिये गये और यह कहा गया है कि "घायल मत करो। अस्पतालों में जगह नहीं है। सीधे मारो। खत्म करो। ताकि दुबारा वे सिर न उठा सकें। आजादी की मांग का सबक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिल जाय।" इस तरह की घटनाओं ने जहां हमें चौंका दिया है, वहां बर्लिन, अलजीरिया, गोवा और कश्मीर के उलझे हुए प्रश्नों ने भी शांति चाहने वाले विश्व-नेताओं को परेशान कर रखा है।

तटस्थ नीति

●

विश्व के शांतिवादी नेताओं में कर्नल नासिर और पं० नेहरू का नाम बड़े गौरव के साथ इन दिनों लिया जाने लगा है और किसी भी अंतर्राष्ट्रीय हिंसा के शमन का उपाय इन दोनों नेताओं के मार्ग-दर्शन पर अवलंबित होता जा रहा है। इसमें एक कारण यह भी है कि आज शक्ति संतुलन तटस्थ देशों के हाथ में है और तटस्थ देश जिधर चाहें, विश्व-राजनीति को मोड़ सकते हैं। सौभाग्य से करीब करीब सभी तटस्थ राष्ट्र अहिंसावादी हैं।

पिछले दिनों चीन ने जिस नग्न साम्राज्य लिप्सा का परिचय दिया है और तिब्बत के लोगों पर दमन चक्र चलाने के अलावा हिमालय पर उसने जो हिंसा-दृष्टि फेंकी है, उससे लगता है कि अभी भी अहिंसा वादियों को चैन से जीना नसीब नहीं होगा। वरना जिस हिन्दुस्तान ने प्रेम का हाथ बढ़ाया, दोस्ती का पैगाम दिया अनेक साम्राज्यवादियों की नाराजगी मोल लेकर भी उसने जिस तरह अपनी अहिंसा नीति का पालन किया, क्या उसका प्रतिदान चीन इसी तरह देता?

जो भी हो, हम दोष किसे दें? क्या उन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों को जहाँ अहिंसा का विचार अभी बचपन में से गुजर रहा है? या उन राष्ट्रीय परिस्थितियों को जहां लगता है कि अहिंसा का विचार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बूढ़ा हो कर मरने की तैयारी कर रहा है। हम एक हैं। सब आपस में भाई-भाई हैं। महावीर, बुद्ध और गाँधी ने हमें प्रेम और अहिंसा का पंथ बताया है। तब भी हम भाषा प्रान्त के बेबुनियाद झगड़े को लेकर उलझ पड़ते हैं। दंगा कर बैठते हैं। गोलियाँ चला बैठते हैं। जरा से विरोध पर हर किसी महान से महान व्यक्ति पर छुरा चलाने की हरकतें कर बैठते हैं। यह सब क्या है ? क्या हमारी नादानी नहीं है ? न जाने कितने नये पुराने मसले हैं जो हमारी निहायत बेसमझी का प्रदर्शन कर रहे हैं और हमारी गहरी अहिंसक परम्पराओं का उपहास कर रहे हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कृपया इस ग्रन्थको निम्नांकित तिथि पर या उसके पूर्व
लौटा दें। विलम्बसे लौटानेपर ५ पैसे
प्रतिदिन दण्ड देना होगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi